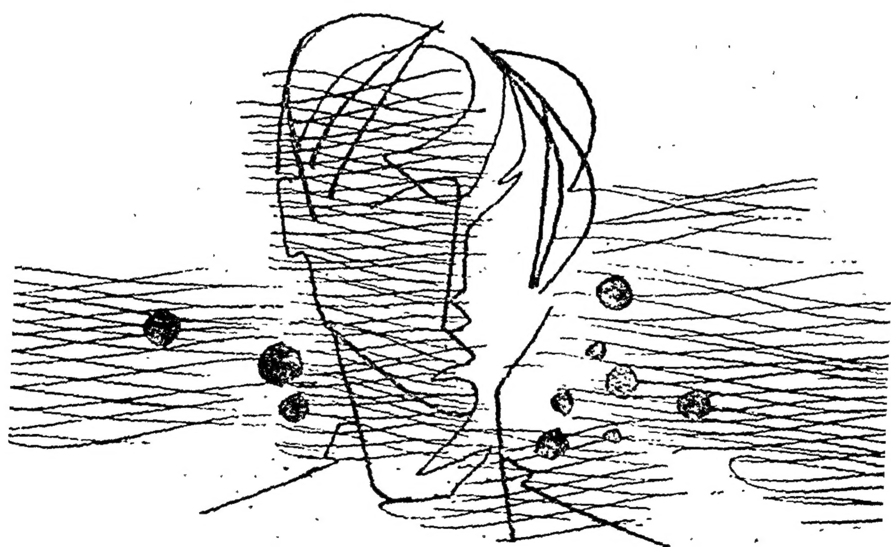
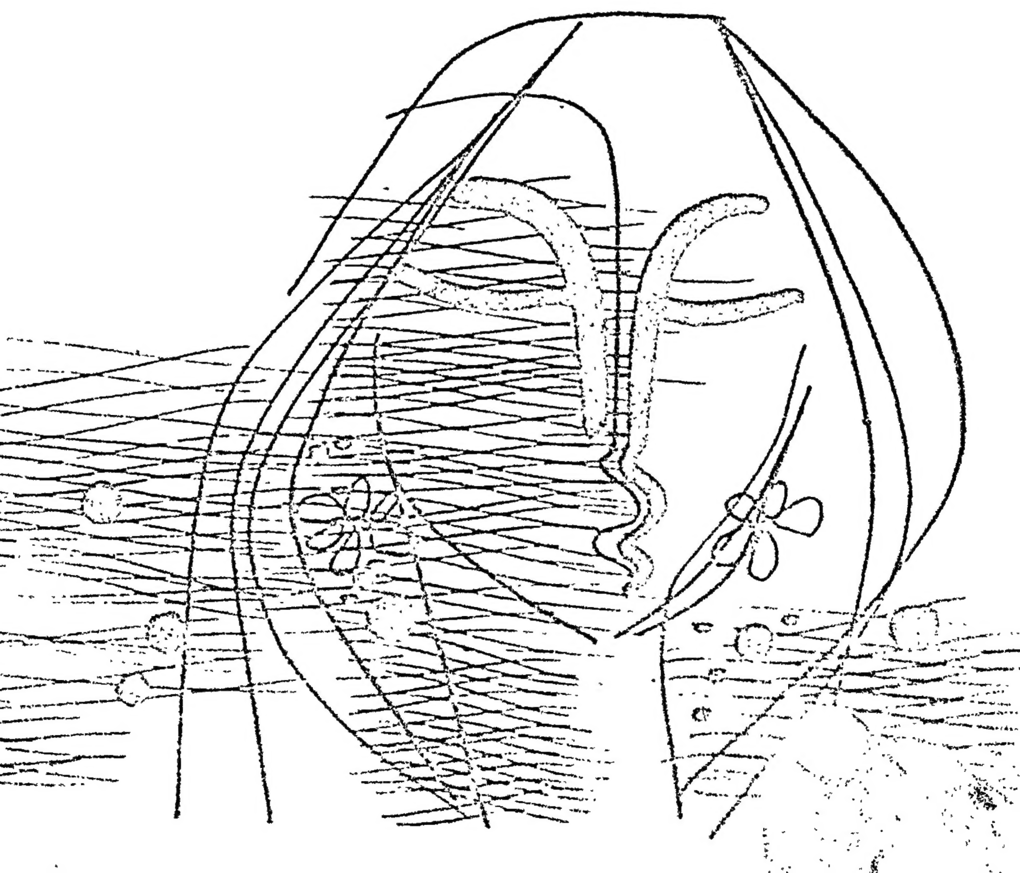
तपस्या



तपस्या

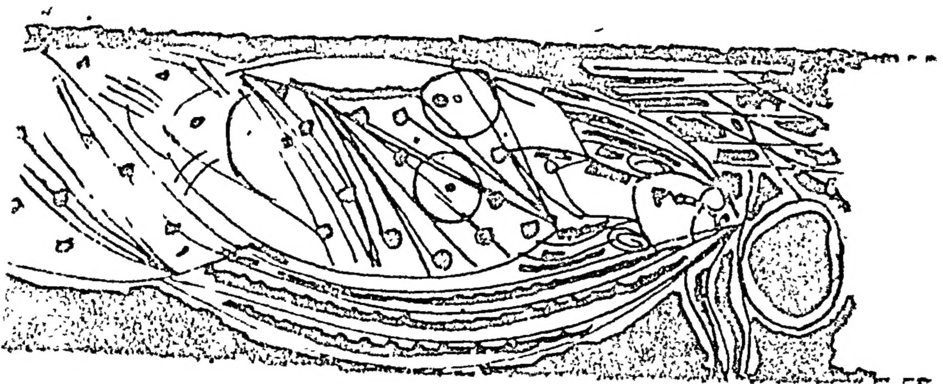
आशापूर्णा देवी



मूल बंगला से अनुवाद
देवलीना

मूल्य : दस रुपये / प्रथम संस्करण, १९७७ / आवरण : नीला चटर्जी /
प्रकाशक : पराग प्रकाशन, ३/११४, विश्वासनगर, शाहदरा, दिल्ली-३२ /
मुद्रक : प्रगति प्रिंटर्स, दिल्ली-३२

TAPASYA (*Novel*) ASHA PURNA DEVI Rs. 10.00



तपस्या



लाल वनारसी साड़ी !

दुल्हन ने नाक सिकोड़ ली। वोली, "छि:-छि:, लाल वनारसी ? वह भी वड़े-वड़े फूलों वाली। हर्गिज़ नहीं। दुहाई दीदी, खामखा इतने पैसे वर्वाद मत करो।"

प्रतिवाद की इस धारा से मन्दिरा सहम गयी। फिर भी कोशिश कर आवाज़ को थोड़ा कठोर कर वोली, "खामखा वर्वादी की वात क्यों करती है, छन्दा ? शादी के लिए लाल वनारसी साड़ी से खूवसूरत और क्या चीज़ हो सकती है ?"

छन्दिता उस युग की लड़की नहीं जो अपने विवाह के मामले में कुछ कहने में संकोच का अनुभव करे। थोड़ी वहुत लज्जा का ढोंग इन्दिरा, नन्दिता, उसकी दूसरी दीदियों ने ही किया था पर छन्दिता इस मामले में विलकुल लापरवाह लड़की थी। अपने नाम से फालतू अंश को छांटकर अनायास ही वह छन्दा वन गयी थी। अपनी शादी की हर वात में वह रुचि ले रही थी। यहां तक कि दूल्हे की घड़ी, अंगूठी और उसके छाते को भी उसने स्वयं पसन्द किया था। और यह तो ठहरी अपनी साड़ी।

वड़ी दीदी मन्दिरा के टोकने पर झंकार के साथ वह वोली, "हां-हां, एक वार विवाह-मण्डप पर सजकर वैठने के ही तो काम आएगी। फिर उसके वाद इस साड़ी का क्या होगा ? एक-दो घंटों की खूवसूरती के लिए नाहक दो सौ रुपए वर्वाद क्यों हों ?"

मन्दिरा ने उदास-सी दृष्टि से छोटी वहन को देखा। कितनी उम्र

होगी छन्दा की। पर कितनी व्यावहारिक बन गयी है। नववधू के मोहक साज-शृंगार का कोई स्वप्न उसके मन में नहीं है। वह रुपयों को देख रही है। सोच रही है, भविष्य में उस साड़ी के दाम वसूल होंगे या नहीं। और फिर ऊंची आवाज में अपनी राय व्यक्त कर रही है।

पर नये गहनों और साज-सजावट के और सामान में लाल बनारसी साड़ी के अलावा और कुछ जंचेगा भी तो नहीं। जरी के बड़े-बड़े फूलों वाली लाल बनारसी साड़ी! नया दूल्हा पहली बार तो उस लावण्यमयी छवि को ही देखेगा। पहली दृष्टि, पहला सुर, प्रथम रंग। शिराओं में प्रवाहित खून में हलचल मचा देगा। बेवकूफ लड़की इस सीधी-सी बात को क्यों नहीं समझ रही है? मन्दिरा कमजोर-सी आवाज में बोली, "बाद में काम नहीं आएगी, ऐसा क्यों कह रही है, छन्दा? लाल साड़ी क्या कोई पहनता नहीं?"

छन्दा तुनककर बोली, "जो पहनती है वह पहना करे, दीदी। कनक-वर्णा कन्याएं तो चलो पहन भी सकती हैं, पर मुझसे नहीं पहनी जाएगी। शादी के दिन तो तमाशे-तमाशे में चला जाएगा, पर उसके बाद कभी नहीं।"

मन्दिरा फिर भी बोली, "क्यों री, तू क्या कोई काली लड़की है?"

"तुम लोगों की आंखों में न सही। पर परायी नजरों में तो काली-कलूटी हूं।"

"हर बात में रंग चढ़ाकर बोलती है। नन्दी ने भी अपने को काली बताकर लाल साड़ी न लेने की जिद ठान ली थी। याद है न उसका पागलपन? पर बाद में क्या बुरी दिख रही थी? दुल्हन को देखकर सबने तारीफ ही तो की।"

छन्दिता हंसकर बोली, "देखो दीदी, शादी के दिन भी बदसूरत दिखें, ऐसी लड़कियां कम होंगी। चाहे जैसी भी लड़की हो, चन्दन, कुंकुम की बिन्दी और फूलमालाओं की सजावट में जंच ही जाती है।"

मन्दिरा हंस पड़ी, "तू ठीक ही कह रही है। मन की खुशी से चेहरा भी बदल जाता है। पर यह बात रहने दे। साड़ी की बात बता।"

"बताया तो, लाल रंग नहीं चलेगा। कोई भी डीप रंग नहीं चलेगा।

हल्का-सा कोई रंग।"

मन्दिरा बोली, "शादी के दिन हल्का रंग क्यों? उस दिन तो गाढ़ा रंग ही ठीक है रे, छन्दा। यह दिन ही कुछ ऐसा है···"

मन्दिरा इस बात को परिहास में ही बोल गयी, पर आवाज उसकी गम्भीर थी। इस सुर को सुनते ही छन्दा हंसकर बोली, "कविता छोड़ो, दीदी। एक शाम के सेंटिमेंट के लिए अगर तुम्हारे पास दो-चार सौ रुपए फालतू ख़रचने के लिए हैं तो खर्च कर डालो, पर यह निश्चय जान लो, तुम्हारी इस भावपूर्ण, अर्थात् सीधी बातों में निर्बुद्धि का चमकता प्रमाण दूसरी दीदियों की तरह मेरी अलमारी के कोने में भी विराजमान रहेगा।"

छन्दा कुछ ज्यादा ही बोलती है। झर-झरकर बहुत-सी बातें एक साथ ही बक जाती है। और दीदी को बीस साल बड़ी दीदी की तरह मानती भी नहीं। शायद बीस साल बड़ी थी, इसीलिए नहीं मानती। इतनी छोटी होने के कारण ही मन्दिरा से उसे इतना दुलार और बढ़ावा मिला था। छन्दा मन्दिरा की लड़की की तरह थी, सिर्फ़ रिश्ता बहन का था।

जन्म के साथ ही नवजात शिशु को गोद में उठाना पड़ा था मन्दिरा को। आंसू बहाने का अवसर उसे नहीं मिला था।

छन्दा उसकी मां वंदना की आख़िरी संतान थी। छन्दा को धरती पर लाते ही वंदना ख़ुद इस धरती से चल बसी थी। मन्दिरा उस समय बीस साल की थी। घर की बड़ी लड़की, मां का भरपूर प्यार सबसे अधिक उसने अकेले ही भोगा था, पर वह भी बहुत दिनों तक नहीं। एक-एक कर वंदना ने चार लड़के-लड़कियों को और जन्म दिया था।

पहले आया लड़का सुनन्द—मन्दिरा से कई साल छोटा। उसके बाद कतार से इन्दिरा, नन्दिता और छन्दिता। नाम लेकर कोई जन्मा नहीं था। छन्द के अनुसार नाम रखने का श्रेय भी मन्दिरा को ही था।

वंदना ने जिस दिन अंतिम सांस ली, छन्दा बस चार दिनों की थी। मन्दिरा के पिताजी ने रुंधी आवाज में उससे कहा था, "इसका नाम छन्द मिलाकर रखने की जरूरत नहीं, मन्दि। इसका नाम रख दे अश्रु, छाया

या करुणा। सबों की करुणा पर ही तो जिएगी।"

मन्दिरा बोली थी, "क्यों पिताजी, करुणा पर क्यों? मां नहीं है इसलिए संसार पर से उसका सारा अधिकार भी छिन गया क्या? छन्द मिलाकर ही नाम रखूंगी। नन्दिता के बाद छन्दिता अच्छा नाम रहेगा।"

पर पिता से भी इस अबोध बच्ची के लिए मन्दिरा आखिर कितने दिनों तक अधिकार की लड़ाई कर सकी थी? लड़की का नाम अश्रु न रखने पर भी आंसुओं की बाढ़ ने उसके पिता के दिल को हिला दिया। स्वास्थ्य गिर गया। उन्होंने बिस्तर पकड़ लिया।

मन्दिरा अवर्णनीय स्थिति में आ पड़ी। एक तरफ मातृहीन असहाय शिशु, दूसरी तरफ पत्नीहारा असहाय एक बूढ़ा। प्रौढ़ आदमी भी शिशु की तरह नासमझ बन गया। साथ में एक ऐसी गृहस्थी जहां तीन छोटे भाई-बहन दीदी का मुंह ताक रहे थे। दीदी न दे तो बेचारों को समझ नहीं कि रोज़ के कपड़े कौन-से पहनें? क्या खाएं? घर भी इतना सम्पन्न नहीं कि चारों तरफ नौकर-चाकर खट रहे हों। सारा काम-काज अपने ही हाथों संभालना। किसी शाम थोड़ी तबीयत खराब रही तो लगा, न जाने क्या अपराध हो गया।

तीन साल बाद पिताजी ने इस परिस्थिति से मुक्ति दी। पर लम्बे अर्से की बीमारी ने गृहस्थी को बिलकुल खोखला कर दिया था।

पिता के मरने के बाद इस खोखलेपन को अनुभव कर मन्दिरा को तो दिन में भी तारे नजर आने लगे। भाई-बहन इन तीन वर्षों में और भी बड़े हो गए। उनकी खुराक बढ़ी, कपड़ों का नाप बढ़ा, शैतानी भी बढ़ गयी।

मन्दिरा की आंखों के आगे सिर्फ़ अंधेरा था।

तेईस साल की जवान लड़की इस अंधेरे में कर्तव्यों से लदे इस जहाज़ को कैसे ठेले? मां-बाप के मरने पर जिस चाचा ने कुछ पूछा नहीं, उसी चाचा के आगे हाथ फैलाए या फिर जो पत्नी तक को भूलकर गुरु के नाम पर मतवाला होकर फिर रहा है, उस मामा के घर आश्रय मांगे?

लोगों ने तो मन्दिरा को वही उपदेश दिया जो सबसे आसान था।

कहा, "मकान तो अपना है ही। अच्छा-खासा मकान है, आज के जमाने में किराया भी अच्छा मिल जायेगा। इसलिए अब इस मकान को ही एक कमाऊ पुरुष समझो और सब लोग मामा के घर जाकर रहो। मामा का घर बड़ा है। गुरु कब अपने चेलों के साथ आएगा इसीलिए किराए पर भी नहीं चढ़ाता। वहीं जाकर दो कमरे मांग लो।"

इन हितैषियों की बातें टालकर मन्दिरा यह नहीं बोली कि जब तक जान में जान रहेगी, वह ऐसा नहीं करेगी। नम्र भाव से सिर्फ़ इतना ही बोली थी, "देखूं, शायद यही करना पड़े।"

यह हितैषी वर्ग पिता के श्राद्ध के अवसर पर आया था। अब और रहना उनके लिए भी भारी पड़ रहा था। उनमें से कुछ बोले, "हमें भी तो अब लौटना पड़ेगा।"

मन्दिरा घबराकर बोली, "आप ठीक ही कह रहे हैं। अपनी घर-गृहस्थी छोड़कर…"

"यही तो बात है। पर बेटी, तुम लोगों का…"

अनभिज्ञ की भांति मन्दिरा ने आंखें उठाईं, "जी ?"

"तुम अकेली पड़ जाओगी। इस उम्र में अकेली रहोगी। यह तो ठीक नहीं।"

मन्दिरा ने जवाब दिया, "अकेली कहां ? हम पांच जने हैं।"

"पांच जने ? इन बच्चों के लिए कह रही हो ?"

"बच्चे ही तो घर की शान हैं।" मन्दिरा बोली।

रिश्ते की एक बुआ नाराज होकर बोली, "तू तो मानो आकाश से टपक पड़ी है, मन्दिरा। बंगाली समाज तूने अभी देखा नहीं ! अपने जैसी लड़की को अकेली रहते देखा है कभी तूने ?"

"याद नहीं आ रहा है। पर अपनी जैसी हालत भी तो और किसी की देखी हो, याद नहीं आता।" मन्दिरा बोली।

"तो फिर तुमने अकेले रहने का निश्चय किया है ?" बुआ ने पूछा।

"मैंने निश्चय किया है, यह सही नहीं है। सच तो यह है कि भगवान ऐसा ही चाहते हैं।"

"राम जाने किसी पुरुष अभिभावक के बिना बारह महीने कैसे बिताए

जा सकते हैं—यह मेरी बुद्धि के तो बाहर की चीज़ है।" बुआ खिसियायी।

मन्दिरा हंसकर बोली, "मेरी भी समझ में नहीं आता। पर क्या करूं, हालत ही कुछ ऐसी है। देखें, क्या होता है।"

उसी समय से मन्दिरा ने सबको अपनी बांहों में समेट लिया था।

आज भी उन दिनों की बातें आंखों के सामने तसवीर की तरह घूम जाती हैं। लगता है, ये तसवीरें सामने की दीवार पर टंगी हैं—केवल आंखें उठाने भर की देर है। नजर उठाते ही मन्दिरा देख सकती है—वंदना की आकस्मिक मृत्यु और पिता बिजन बाबू को तीन साल का मृत्युशैया का कष्ट। मन्दिरा देख सकती है कि आज की छन्दा, इन्दिरा, नन्दिता और सुनन्द उन दिनों कितने छोटे-छोटे थे। ये तसवीरें बोल नहीं सकतीं, पर आज के युग में यह कोई अनहोनी बात तो नहीं। इस युग में तो 'आश्चर्य' शब्द ही आश्चर्य की वस्तु है।

पर मन्दिरा की घटना से सभी को आश्चर्य हुआ था।

तसवीरें मानो बातें कर उठीं।

मन्दिरा की मां अंतिम घड़ियां गिन रही थी। अस्पताल का कमरा दवाइयों की तेज गन्ध से भर चुका था। नर्सें दौड़ रही थीं। दूसरे रोगियों के आगे पर्दा रख दिया गया था। वंदना मानो आहत पशु की भांति दीवार की तरफ एकटक देख रही थी।

वंदना पति को भी नहीं देख रही थी, लड़की की तरफ भी नहीं। उसकी आंखें बस सफ़ेद सूनी दीवार पर टिकी थीं। उस दीवार पर क्या लिखा हुआ था?

बहुत बार मन्दिरा के मन में आया है कि उस समय मां किसकी बात सोच रही थी? किसके लिए उनके चेहरे पर वेदना की छाप इतनी स्पष्ट उभर आयी थी? इस दुनिया में तुरंत आयी लड़की की बात सोचकर या जिस लड़की को दुनिया में सबसे पहले लायी थी, उसकी बात सोचकर?

मां के होंठ बोलने की व्यर्थ चेष्टा से दो बार कांप उठे थे। अगर वह चेष्टा सफल होती तो मां क्या कहती?

बिजन बाबू ने बुझे स्वर में नर्स से पूछा था, "उसकी आखिरी बात

क्या थी ?"

पत्थर-सी आवाज़ में नर्स बोली थी, "अंत में तो डिलिरियम हो गया था।"

"फिर भी ?" उम्र की मर्यादा छोड़ वह विनती के स्वर में बोल उठे थे, "उस डिलिरियम की बात ही बताइए। जब बात बिलकुल बंद हो गयी, उसके पहले की आखिरी बात क्या थी ?"

"नहीं कह सकती।" फिर होंठ दबाकर ऑक्सीजन की नली टेढ़ी करती हुई बोली, "पेशेन्ट के रिश्तेदार कैसे अजीब सवाल कर बैठते हैं।"

अचानक मन्दिरा रूखे स्वर में बोली, "उसका कारण यह है कि पेशेन्ट के रिश्तेदार आप लोगों की तरह पत्थर की पुतलियां नहीं हैं ! वे रक्त-मांस के जीव हैं।"

इस आक्रमण के लिए नर्स तैयार नहीं थी। उसकी आंखें चमक उठीं। पर नली पकड़े उसके हाथ कांपे नहीं, गला भी नहीं कांपा। केवल दृढ़ आवाज़ में बोली, "सीरियस केस के सामने उत्तेजना पैदा करने के अपराध में मैं आपको बाहर जाने के लिए कहने पर मजबूर हूं।"

मन्दिरा बेंच पर से उठकर गुस्से में बोली, "आप लोगों ने अपने आपको समझ क्या रखा है—अस्पताल का सर्वेसर्वा ?"

"मन्दि !" विजन बाबू ने धीरे से कहा, "अभी झगड़ा-फसाद का वक्त नहीं है, बेटी !"

"झगड़ा मैं नहीं कर रही, बाबूजी !" कहकर मन्दिरा बेंच पर दूसरी तरफ मुंह फेरकर बैठ गयी।

कर्तव्य-रत नर्स ने कर्तव्य में कोई ढिलाई नहीं दिखाई। शायद मन-ही-मन शिकायत का ढांचा बना रही थी।

रोगिणी की सांस अचानक तेजी से क्षीण होती गयी। फिर रुक-रुककर चलने लगी। विजन बाबू दोनों हाथों से मुंह ढककर बैठे थे। डॉक्टर आए। रोगिणी पर एक नजर दौड़ाई। फिर दूसरों की समझ में नहीं आए, ऐसी धीमी आवाज में नर्स से कुछ कहा। नर्स ने उससे भी धीमे स्वर में कुछ जवाब दिया। डॉक्टर ने भौं तानकर इन लोगों को देखा, फिर बाहर निकल गए।

और उसके चंद मिनटों वाद ही वह घटना घट गयी। वह निष्ठुर निश्चित चिरंतन घटना। केवल अंतिम मुहूर्त में एक अमानवीय स्वर कमरे की हवा में गूंज उठा। विजन वावू चौंक उठे। मन्दिरा चौंक उठी।

क्या ?···क्या ? रोगिणी ने क्या कहा ? वह पृथ्वी पर अपनी कौन-सी वात छोड़ गयी ?

विजन वावू हाहाकार कर उठे। "नर्स ! नर्स ! आपने कुछ सुना ?"

इस वार नर्स ने यह नहीं कहा—कैसे अजीव सवाल करते हैं आप लोग ! सिर्फ़ वोली, "ठीक से समझी नहीं। ऐसा लगा, जैसे कहना चाह रही थी—'शादी'। माफ कीजिएगा, आप लोगों को अव वाहर जाना पड़ेगा।"

पचास के करीव के विजन वावू ने अचानक वच्चों की तरह हाहाकार कर पलंग पकड़ लिया। वोले, "मैं नही जाऊंगा, मैं नहीं जाऊंगा। वंदना, तुम्हें यहां छोड़कर मैं नहीं जाऊंगा।"

"वावूजी, उठिए।"

पिता की पीठ पर हाथ रखकर एक तरह से उन्हें खींचकर मन्दिरा वाहर निकल आयी।

मृत्यु ने पर्दा गिरा दिया था। रंगमंच पर अंधेरा था। दर्शकों को वैठने की ज़रूरत नहीं थी। वाहर मन्दिरा के चाचा विजन वावू के भाई, निर्जन वावू वैठे थे, और था मोहल्ले का लड़का अभिजित। मन को वल मिले, इसलिए करीव रोज़ ही विजनविहारी उसे अपने साथ लाते।

वंदना की मृत्यु विजनविहारी को अपंग-सा वना गयी। शायद उन्होंने यह भी सोचा होगा—इस वच्ची को जनमने की जरूरत क्या थी। यह भी सोचा होगा कि नन्दिता के जन्म के वाद से ही वंदना का स्वास्थ्य टूट गया था। मैंने गौर नहीं किया, नहीं तो न तो यह लड़की जनमती और न ही वंदना जाती। जिस क्षण उन्हें यह मालूम पड़ा कि प्रसव के साथ ही वंदना की जीवन-हानि की संभावना है, उसी क्षण से टूटी घड़ी की तरह विजनविहारी भी थम गए थे। शायद इसीलिए अस्पताल आने के लिए भी उन्हें किसी की मदद चाहिए थी।

पर कितने दिनों तक आ ही पाए। चार ही दिनों में अस्पताल से फुर्सत मिल गयी। पर घर के काम-काज से तो इतनी जल्दी छुट्टी मिल नहीं सकती थी। अभिजित सभी कामों में हाथ बंटाता। विजन बाबू भी हर काम के लिए उसे बुलाते। बार-बार कहते, "बेटे अभिजित, तुम्हारी मौसी तुम्हें बहुत मानती थी।" फिर न जाने क्यों इस बात के साथ ही उनकी आंखें गीली हो जातीं। अभिजित भी धीरे से कहता, "मुझे मालूम है, मौसाजी!" मालूम तो विजनविहारी को भी था पर वंदना की मृत्यु के बाद उन्हें इसका ज्यादा ही आभास हो रहा था। इसलिए हर शाम वह अभिजित के आने की राह देखते। वंदना के प्यार का लेप मानो अभिजित पर अब भी लगा हुआ था इसीलिए अभिजित को देखते रहना भी विजन बाबू को अच्छा लगता। उसके एक दिन भी न आने पर वह सुनन्द को भेज देते। कहते, "देख तो बेटा, तेरा अभि दा आज क्यों नहीं आया?"

मन्दिरा कभी-कभार कहती, "न आने पर आप बुला क्यों भेजते हैं, बाबूजी? आदमी को अपना भी तो कुछ काम रह सकता है।"

विजनविहारी संकुचित हो जाते। कहते, "नहीं-नहीं, अपना काम हर्जा करके मैं उसे आने के लिए थोड़े ही कहता हूं। मौका मिले, सुविधा हो तो।"

मन्दिरा हंसकर बोलती, "बुला भेजना इसका सबूत नहीं है, बाबूजी!"

मन्दिरा की हंसी देखकर विजनविहारी उदास हो जाते। सिर्फ़ महीने भर पहले जिसकी मां गुजर गयी हो, वह किसी बात पर हंस पड़ेगी, विजनविहारी को यह अजीब-सा लगता। विजनविहारी के मन में एक और बात के लिए भी दुःख था। उनकी ऐसी धारणा थी कि मन्दिरा के मन में अभिजित के लिए थोड़ी कमजोरी है। पर अब लगता था, अभिजित का रोज़-रोज का आना मन्दिरा को पसन्द नहीं था। यह तो कमज़ोरी की निशानी नहीं।

हालांकि यह कमजोरी अगर थी भी तो सिर्फ़ कमजोरी बनकर ही रह जाएगी, यह बात भी पक्की थी क्योंकि अभिजित विजन बाबू से निम्न वर्ग का था। शादी की बात उठ ही नहीं सकती थी। फिर भी उन्हें लगता था, लड़का मन्दिरा को पसन्द है। उसका आना-जाना भी उसे अच्छा

लगता था। पर अब न जाने क्यों उसे बला समझने लगी है !

इसीलिए तो अभिजित को बुलवा भेजने पर या उसके आने का आभास पाकर पहले ही मन्दिरा पिता से कह देती थी, "बाबूजी, आप मुझे चाय-वाय लाने के लिए मत कहिएगा। दूध बिलकुल खत्म है।"

बात गढ़ी हुई थी, सभी समझ सकते थे। गृहस्थ के घर इस तरह से दूध खत्म नहीं होता कि एक प्याला चाय तक नहीं बन सके।--दो-चार चम्मच दूध चाय के वास्ते अलग भी रखा जा सकता था। सिर्फ़ बहाना !

बिजनबिहारी कहते, "रात को मुझे दूध देती है न, उसी में से···"

तब कोई दूसरा बहाना बनाकर मन्दिरा कहती, "शाम को चाय का बखेड़ा करने पर छोटी मुन्नी को सुलाने में देर हो जाती है। खामखा हंगामे की ज़रूरत ही क्या है !"

पर यह बहाना भी विश्वसनीय नहीं था। सुनन्द को पढ़ाते समय, इन्दिरा-नन्दिता को कहानी सुनाकर खिलाते समय क्या छोटी मुन्नी को सुलाने में देरी नहीं होती ? पर हर शाम मन्दिरा इन कामों के लिए समय निकाल ही लेती है।

छोटी मुन्नी छन्दिता पर बिजन बाबू का स्नेह थोड़ा कम था। वह वंदना की मृत्यु का कारण उसी को मानते, इसलिए मन्दिरा का जवाब सुनकर नाराज होकर कहते, "पांच ही मिनट का तो मामला है। इससे तेरी छोटी मुन्नी का कुछ बिगड़ नहीं जाएगा।"

उस दिन पिता की उक्ति सुनकर और दिनों की भांति मन्दिरा मुसकराकर चली नहीं गयी। बोली, "एक दिन अभिजित के न आने पर आपका भी क्या बिगड़ जाएगा, बाबूजी ! किसी दिन अगर कोई नहीं ही आ सके तो ?"

बिजनबिहारी संकुचित होकर बोले, "नहीं-नहीं, मेरा क्या बनता-बिगड़ता है। तेरी मां उसे बहुत मानती थी। उसे देखकर मन को थोड़ी शान्ति मिलती है।"

मन्दिरा बोली, "प्यार तो मां हम लोगों को भी किया करती थी, पर हम लोगों को देखकर आपके मन को शान्ति क्यों नहीं मिलती !"

बिजनबिहारी सहम गए। मन-ही मन सोचा—लड़की जात ही

ईर्ष्यालु होती है। एक पराया लड़का ही तो है, पर बेटी को वह भी नहीं भाता। अभिजित को देखते ही उन्हें वंदना की याद आती। आज भी जब अभिजित के आने का समय बीत गया, विजनविहारी ने चुपचाप सुनन्द को बुलवाकर कहा, "देख तो, तेरा अभिदा आज अभी तक आया क्यों नहीं? कहीं बीमार-वीमार तो नहीं हो गया?" पर आज और दिनों की तरह सुनन्द ने यह नहीं कहा, "हां, बाबूजी, अभी देखकर आता हूं" बल्कि धीमी आवाज में बोला "बुलाने गया तो दीदी मुझे डांटेंगी।"

"दीदी डांटेगी?"

"हां! कहती है, पढ़ाई-लिखाई छोड़कर मुहल्लेवालों के घर दौड़ने की जरूरत नहीं।"

विजनविहारी थोड़ी देर चुप रहकर बोले, "कुछ भी हो, तू जा। मन्दिरा कुछ कहे तो कहना—बाबूजी ने भेजा था, बाबूजी का कहना नहीं मानूंगा?"

सुनन्द ने मन में निश्चय कर लिया कि वह बाबूजी के आदेश का पहला वाक्य तो कह देगा पर उसके आगे कुछ नहीं कह सकेगा। दीदी को सुनन्द जितना प्यार करता, उतना ही उससे डरता भी था। शायद ज्यादा मानता था, इसीलिए डर भी ज्यादा था। प्यार से ही तो भय जन्मता है—प्रिय पात्रों के स्वाभिमान का भय, उनके मन टूटने का भय, उनके गुस्से का भय।

जैसे ही वह अभिजित को लेकर लौटा, मन्दिरा सपाट पूछ बैठी, "किताब फेंककर फिर गया था बुलाने?"

सुनन्द अभिजित से सटकर बोला, "वाह! बाबूजी के कहने पर ही तो गया था।"

"अच्छा, जा! जाकर पढ़। बाबूजी के कमरे में जाकर गप्पें निगलने की जरूरत नहीं।"

सुनन्द झट भाग निकला। बच गया बेचारा, नहीं तो क्या पता दीदी गणित के दस सवालों को हल करने को कह बैठती। सुनन्द के जाते ही अभिजित ने हंसकर कहा, "उस पर तो खूब शासन चला रही हो। अपनी पढ़ाई का क्या हाल है?"

मन्दिरा गंभीर होकर बोली, "दक्षिण दिशा में यमराज का एक महल

है, वहीं पर गयी मेरी पढ़ाई।"

"माने और आगे नहीं पढ़ोगी ?"

"माने तो यही निकलता है।"

"यूनिवर्सिटी में दाखिले के दिन खत्म हो रहे हैं। कुछ ही दिन रह गए हैं। किनारे पहुंचकर नाव डुबाओगी ?"

"ऐसा कितने ही अभागों के साथ होता है।"

"देखो, फालतू बातें छोड़ो। तुम्हें एम०ए० करना ही होगा।"

"हुक्म है ?"

"ऐसा ही समझो।"

"मुहल्लेवालों का हुक्म मानेगा कौन ?"

"तुम्हें हो क्या गया है, मन्दिरा ! बिना कारण सबसे लड़ने पर तुली हुई हो। उस दिन अस्पताल में नाहक नर्स के साथ उलझ पड़ीं और अब पड़ोस के लड़के से लड़ रही हो।"

"अनिष्टकारी पड़ोस से लड़ना ही शुभ है।"

"अनिष्टकारी ?" अभिजित ने आंखें उठायीं। फिर चेहरे पर गंभीर भाव खिल उठा। मुसकराकर बोला, "खैर, थोड़ी बहुत स्वीकृति तो मिली न। बुरा करने की क्षमता भी कोई कम क्षमता थोड़े ही है। पर यहां आने के लिए मना करना क्या शिष्टाचार है ?"

"मैं शिष्टाचार निभाती हूं, ऐसा खयाल छोड़ दो। मैं झगड़ालू हूं, अभद्र हूं, ऐसा ही मान लो तो अच्छा रहेगा।"

"बहुत अच्छा। पर तुम्हारे इस प्रतिरोध की चेष्टा मौसाजी के मन में गलत धारणा पैदा कर रही है।"

"गलत धारणा तो जिसकी मर्जी वही बना सकता है। पर किसकी कौन-सी धारणा सही है और कौन-सी गलत, यह ठीक-ठीक कौन बताएगा? मुहल्ले में और पड़ोसी हैं, उनके पास दिमाग भी है, इसलिए उनके लिए यह विश्वास करना कठिन होगा कि सिर्फ़ मौसा के शोक-संतप्त हृदय को शांति पहुंचाने के लिए ही तुम रोज यहां हाजिरी देने चले आते हो।"

"विश्वास करना कठिन होगा ?"

"कठिन होगा या ऐसा विश्वास करना ही असंभव-सा है, यह भी

सोचने की बात है। उनके लिए सोचना स्वाभाविक है कि तुमने इस घर की लड़की के मातृशोक को एक अच्छा मौका समझ रखा है।"

"बहुत दूर तक सोचना सीख गयी हो। पर तुम्हारे बाबूजी तो ऐसा नहीं सोचते ?"

"बाबूजी ? बाबूजी तो स्वयं ही साइकोलॉजी के केस हैं।"

"मतलब ?"

"पहले बाबूजी शाम को सुनन्द को पढ़ाते थे, यह तो तुम्हें मालूम ही होगा। कहीं उसी काम की जिम्मेदारी फिर न आ पड़े इस डर से बाबूजी हर शाम पत्नी-शोक से भर जाते हैं और इसमें तुम उनकी सहायता करते हो।"

"सर्वनाश ! बड़ी खतरनाक लड़की हो तुम ! इतने जटिल और कुटिल ढंग से सोचना किससे सीखा है ?"

"संसार में कितनी ही बातें यों ही सीख ली जाती हैं। सीखने की जरूरत नहीं पड़ती।"

"ठीक है, इस पर तुमसे फिर बहस करूंगा।"

"क्या फायदा ! ज्यादा न आना ही ठीक है।"

"अच्छी बात है। यही याद रखने की कोशिश करूंगा।"

अभिजित ने प्रतिज्ञा की थी और उसका पालन भी। पर अभिमान त्यागकर उस दिन मन्दिरा को ही उसे बुलाना पड़ा था।

अभिजित हाल में डॉक्टरी पास कर चुका था और आधी रात गए अगर विजनविहारी यह कहें कि उनकी तबीयत खराब हो रही है और वह ज्यादा देर नहीं टिकेंगे तो डॉक्टर को बिना बुलाए मन्दिरा रह भी कैसे सकती थी ? और अभिजित तो डॉक्टरी पास करने के पहले से ही इस घर का पारिवारिक चिकित्सक बन चुका था। और फिर आधी रात को दूसरा डॉक्टर मिलता भी कहां ?

सुनन्द को नींद से जगाकर डॉक्टर के पास भेजना पड़ा। विजन-विहारी कांपती आवाज में कह रहे थे, "तुम्हारी मां आकर यहां खड़ी है, देख नहीं रही हो। वह देखो, उस अलमारी के पास। मुझे बुला रही है।"

अभिजित आया। डॉक्टरी फटकार से विजन बाबू की कांपती आवाज और आंखों के भ्रम को दूर किया। फिर नींद की दवा देकर चला गया। पर यह बात उसी रात नहीं खत्म हुई। विजनविहारी बीच-बीच में अस्वस्थ रहने लगे।

अभिजित ने कहा था, "यह भी एक अजीब किस्म की मानसिक बीमारी है। वे शोक को ज़िन्दा रखना चाहते हैं।"

मन्दिरा नीरस भाव से बोली, "रोग-निर्णय में कोई नयापन नहीं। जो डॉक्टर नहीं, वे भी इसे जानते हैं।"

"शोक, दुख या किसी तरह के कष्ट को मन में ज़िन्दा रखने की इच्छा भी तो एक बीमारी है, मन्दिरा!"

मन्दिरा बोली, "हो सकता है। पर घर के दूसरे सदस्यों के लिए तो यह भारी पड़ता है।"

परिस्थिति सचमुच भारी हो उठी।

पत्नी-वियोग में ली हुई छुट्टी खत्म हो गयी, पर विजनविहारी दफ्तर नहीं गए। छुट्टी बढ़ा ली। पहले आधी तनख्वाह पर, फिर बिना तनख्वाह की छुट्टी, उसके बाद आधी पेंशन पर नौकरी से छुट्टी ले ली। रिश्तेदारों ने बहुत समझाया।

मन्दिरा और अभिजित भी जब समझा-समझाकर हार गये, तब मन्दिरा अपनी बुआ और मौसी को बुला लायी। पर उनके कहने पर विजनविहारी उदास होकर यही बोले, "क्या करूं? मेरा मन टूट गया है। काम-काज सब भूल चुका हूं। मेरे तो हाथ-पैर ही नहीं चलते।"

अन्त में एक दिन अभिजित की मां आयी। पुराने किस्म की विधवा महिला। वंदना से दोस्ती थी, पर विजनविहारी से कभी आमने-सामने बात नहीं की थी। फिर भी आज किवाड़ की आड़ में खड़ी होकर, सिर पर आंचल डाले नरम आवाज में बोली, "अभिजित से सुना है मैंने। पर काम-काज छोड़ना क्या अच्छी बात है? काम ही तो मन का अवलम्बन है। इतने दिनों तक काम-काज में रहकर अब घर बैठने पर मन और भी उदास रहा करेगा।"

विजन बाबू बोले, "मैं सब कुछ समझता हूं, पर मुझमें अब हिम्मत

ही नहीं। मेरी तो सारी शक्ति वंदना के साथ ही चली गयी है।"

अभिजित की मां ने उस सौभाग्यशालिनी की बात सोचकर एक गहरी सांस ली और बोली, "फिर भी आदमी को काम तो करना ही पड़ता है। पांच बच्चे हैं, उन्हें देखकर ही आप अपने शोक को भुला…"

"नहीं, मिसेज़ दास, ऐसा नहीं हो सकता। मेरा मन बिलकुल टूट चुका है। मेरी आंखों में वह क्या थी…"

मिसेज़ दास 'मिसेज़ दास' सम्बोधन से अभ्यस्त नहीं थी, फिर भी बोली, "आपकी हालत समझ सकती हूं, पर कर्तव्य तो दया नहीं करता। आपको अपनी बड़ी बेटी का व्याह करना है। बच्चों को संभालने के लिए किसी को काम पर रखना है…"

"मैं कुछ भी नहीं कर सकता, मिसेज़ दास।" विजनविहारी तकिए में सिर छिपाकर सिसकियां भरने लगे।

अभिजित की मां निराश होकर बोली, "नहीं मन्दिरा, मैं भी नहीं समझा सकी। बहुत समझाया। पर वह तो एक ही रट लगाए हुए हैं—मुझमें हिम्मत नहीं। कितना प्यार है अपनी पत्नी पर! तुम्हारी मां से तो मुझे ईर्ष्या हो रही है।"

मन्दिरा के मन में आया कि इतने गहरे प्रेम का एक छोटा-सा अंश भी बच्चों के प्रति होता तो अपने शरीर को शौकिया इस कदर नहीं बिगाड़ते। इस नशे से मुक्त होकर स्वाभाविक आदमी बन जाते। पर अभिजित की मां से बोली, "पर बाबूजी का स्वास्थ्य अच्छा ही है, इतना बुरा तो नहीं।"

मन्दिरा झूठ नहीं बोली थी। स्वास्थ्य विजनविहारी का हमेशा से ही अच्छा रहा था। इन्हीं दिनों कभी-कभी वंदना की अनुपस्थिति की कल्पना से अस्वस्थ हो जाते, नहीं तो ठीक ही थे। पचास के करीब उम्र। ब्लडप्रेशर नहीं, डायबिटिज नहीं, गठिया नहीं, हाजमा ठीक है, दांत खराब नहीं, आंखें ठीक हैं, फिर क्या उम्मीद की जाए?

अगर मन्दिरा कहती है कि बाबूजी का स्वास्थ्य ठीक है तो उसने कुछ कठोर बात तो नहीं कही थी। पर न जाने कैसे यह बात विजनविहारी के कानों तक पहुंच गयी। उसी दिन अभिजित के सामने मन का क्षोभ

व्यक्त कर डाला, "सुना, बेटा ? बेटी कहती है—बाप का स्वास्थ्य तो बहुत अच्छा है। पर तुम तो डॉक्टर हो, तुम्हें तो मालूम ही होगा, मेरा क्या हाल है।"

हां, अभिजित को मालूम था। पर डॉक्टर को यह भी मालूम करना पड़ता है कि कौन-सी बात और कितना सत्य बाहर प्रकट करना चाहिए और कितना छिपाना चाहिए। इसलिए बोला, "जी, पहले तो आपकी सेहत ठीक ही थी, पर अब तो···"

विजनविहारी उत्साह से बोले, "यह बात तुम्हारी मानता हूं, बेटा। जब तक तुम्हारी मौसी ज़िंदा थी, मैं भी तन्दुरुस्त रहा। उसके हाथ का बना खाना और मन का यत्न, उसी बल पर मैं ठीक था।" फिर थूक घोंटकर, सहमकर बोले, "इसीलिए मरते समय विनती कर गयी कि शादी कर लेना।" बोलते-बोलते विजनविहारी का गला भर आया।

पर मन्दिरा की सारी चेतना मानो मूक हो उठी थी। वह पत्थर की आंखों से देखती रही। अभिजित की प्रश्नभरी आंखें भी उसकी दृष्टि से टकराकर व्यर्थ लौट आयीं।

विजनविहारी गला साफ़ कर बोले, "यही वंदना के आखिरी शब्द थे, 'शादी'। पर मैं रात-दिन उसकी आत्मा से यही कह रहा हूं—वंदना, तुम्हारी यह अंतिम बात मैं नहीं मान सकता। मुझे माफ करना।"

अभिजित और मन्दिरा दोनों मूक श्रोता बने रहे। बिजनविहारी तकिए के बल लेटते हुए बोले, "एक गिलास पानी ला तो, बेटी मन्दि···!"

मन्दिरा बाहर निकल गयी।

थोड़ी देर बाद नन्दिता बड़े गिलास में पानी दे गयी। 'शादी' शब्द से ही मन्दिरा पत्थर-सी बन जाती है। और अभिजित सूखी-सी आवाज़ में कहता, "डिलिरियम में किसी ने कुछ कहा—यह सोचकर खामखा मन छोटा मत कीजिए, मौसाजी !"

पर विजनविहारी अब सचमुच ही अस्वस्थ रहने लगे। 'बाबूजी का स्वास्थ्य तो अच्छा ही है'—मन्दिरा का यह वाक्य मानो उनके लिए काल बन गया। स्वास्थ्य टूट चुका है, इसका प्रमाण देने के लिए पेट में भूख लिये वे डेढ़ रोटी खाकर उठ जाते। नाश्ते के नाम पर कुछ नहीं लेते

और भूख मारने के लिए गिलास भर-भरकर चाय पीते और कहते, "समझे न अभिजित, सिर्फ़ इस चाय से ही मन नहीं उचटा, नहीं तो तमाम चीजें बिना स्वाद की लगती हैं।"

डॉक्टर की हैसियत से अभिजित को दवा देनी पड़ती। पर वह दवाई और भी नुकसान पहुंचाती। भूख बढ़े, ऐसी दवाई खाकर भी अगर दिखावे के लिए खाना छोड़ना पड़े तो इससे बड़ा दण्ड और क्या हो सकता है ?

वंदना की स्मृति में ही बिजनबिहारी ये कष्ट उठा रहे थे। मन चिड़चिड़ा होता गया, नींद घट गयी, सिरदर्द रहने लगा और इस तरह सचमुच ही वे बीमार पड़ गए, पहले दफ्तर के एकाध दोस्त मिलने भी आया करते पर कर्म-जीवन से छुट्टी लेने के साथ-साथ धीरे-धीरे कम होते-होते यार-दोस्तों का साथ भी छूट गया। रिश्तेदार भी आ-आकर थक गए। एक हट्टा-कट्टा मर्द दो साल से पत्नी-वियोग में आंसू बहा-बहाकर अस्वस्थ बन बैठा था, इस हास्यास्पद दृश्य को रोज-रोज कौन देखना चाहेगा ?

पर अभिजित आता रहा। डॉक्टर का कर्तव्य खत्म नहीं होता। परिस्थिति का चुनाव डॉक्टर नहीं कर सकता और फिर अभिजित तो बिना फीस का डॉक्टर था।

मन्दिरा की रिश्ते की एक मौसी कभी-कभी कहती, "लड़की की शादी के लिए क्या कर रहे हो, बिजन ?"

बिजनबिहारी इस मौसी से सख्त चिढ़े रहते। कभी जवाब टाल जाते, कभी नाराजगी के साथ कहते, "उसकी शादी कर देने पर भगवान के इन जीवों की क्या गति होगी, यह सोचा है कभी ?"

मौसी कहती, "खाना बनाने के लिए नौकर रख लो। बेटी की शादी तो करनी ही पड़ेगी।"

"इस जमाने में यह कोई खास बात नहीं।" यह कहकर बिजनबिहारी करवट बदलकर सो जाते।

मौसी भी नाराज होकर चली जाती।

अभिजित ने मन्दिरा से कहा, "तुम्हारे बाबूजी की बीमारी का यह झोंका बढ़ता ही जा रहा है। मालूम है, क्यों ?"

मन्दिरा बोली, "मालूम है।"

"विस्तर में पड़े-पडे मौसाजी कमजोर हो गए हैं।"

"यही तो वह चाहते हैं।"

रोग को वहाने की ज़रूरत नहीं। अंत में विजन वावू गैस्ट्रिक अल्सर के शिकार वन ही गए।

"जान-वूझ कर शरीर में रोग पाला है आपने।" यह कहकर वाप की आंखों का कांटा ही वना जा सकता था, चैतन्य-दायिनी नहीं। मन्दिरा भी वाप की आंखों का कांटा वन गयी। विजनविहारी नासमझ वनते गए, लोभी वन गए। चुरा-छिपाकर खाकर मौत को नज़दीक खींच लाए।

वंदना मृत्यु के पूर्व एक अधूरे वाक्य को छोड़कर गयी थी। विजन-विहारी उस कमी को पूरा करने लगे। मन्दिरा के लिए जो जी में आए, वकने लगे। कहते, "स्वार्थी मन्दिरा छोटे भाई-वहनों को छोड़कर शादी कर लेगी, कुत्ते-विल्ली जैसा हाल होगा वच्चों का। अव तक तो पेंशन का पैसा आ रहा था, वह भी वन्द हो जाएगा। भूखे मर जाएंगे ये वाल-वच्चे।"

एक दिन मन्दिरा निष्ठुर की भांति वोल पड़ी, "वच्चों के भविष्य के लिए और कुछ दिन पहले यदि सोचते, वावूजी!"

विजनविहारी मन्दिरा के निष्ठुर चेहरे को देखकर गुस्से में वेहोश हो गए।

पिता के मरने के वाद कई वार मन्दिरा ने सोचा है—कुछ वातें न कहना ही शायद उसके लिए उचित था। वावूजी की वीमारी वनायी हुई थी, यह गलत धारणा उसके मन में वैठ गयी थी। मानसिक वीमारी भी तो वीमारी ही है। पर वह कर भी क्या सकती थी? वह भी तो मनुष्य ही थी।

मातृहीन अवोध लड़के-लड़कियां और मानसिक रोगग्रस्त एक प्रौढ़—पैसों के अभाव के वीच इस गृहस्थी का भार एक वाईस-तेईस साल की लड़की कैसे ढो रही थी, यही तो वहुत वड़ी वात थी। मन्दिरा ने आत्महत्या नहीं कर ली, यही उसकी वहादुरी थी।

पिता के मरने के वाद गृहस्थी का रूप थोड़ा वदला। निरंतर विद्रोह और

वितृष्णा के बाद लड़ाई खत्म हुई। मन्दिरा के जीवन का दूसरा पहलू धूमिल पड़ गया। अभिजित उसके लिए अस्पष्ट होता गया। उसके जीवन में उसकी कोई प्रत्यक्ष भूमिका नहीं रही।

मन्दिरा ने सख्त हाथों से गृहस्थी को बांध लिया। भाई-बहनों को मुहल्ले के स्कूल में दाखिल करवा दिया और अपने मकान के नीचे के तल्ले में बच्चों के लिए एक स्कूल खोल दिया।

छन्दिता उस स्कूल की पहली छात्रा थी।

यह बुद्धि भी मन्दिरा की ही थी। स्वयं कहीं जाकर नौकरी करे, यह असंभव-सी बात थी। बच्चों को कौन देखता ? दोनों समय खाना बनाकर कौन उनके मुंह के आगे रखता ? और तीन-चार साल छोटी शरारती इस छन्दिता को कौन संभालता ?

मन्दिरा ने स्कूल का नाम रखा—'कमलकली'। दूर के रिश्ते की मौसी कभी-कभी अपनी बहुओं से लड़ाई हो जाने पर यहां दोपहर बिता जाती थी। उस मौसी ने ही एक दिन कहा, "हाय राम, तो तू शादी नहीं करेगी ?"

मन्दिरा हंसकर बोली, "जरूरत क्या है ?"

"सुनो बात ! शादी की जरूरत और बेजरूरत क्या ? शादी के लिए ही शादी होती है। जीवन कैसे कटेगा ?"

"कटेगा ? क्यों, औजारों की कोई कमी है ? चाकू, छुरी, हंसुआ—कितना कुछ तो है।"

"अजीब बात है ! मैं उस काटने की बात थोड़े ही कर रही हूं ? रहने दे, आजकल की लड़कियां बड़ी स्वच्छन्द और वाचाल बन गयी हैं। पर यह बता, तूने यह स्कूल या पाठशाला जो कुछ भी खोला है, वह अपने मां-बाप में से किसी के नाम पर क्यों नहीं खोला ?"

"मां-बाप का नाम ?"

"हां-हां ! आकाश से क्यों गिर रही है ! ऐसा ही तो लोग करते हैं। 'वंदना बालिका विद्यालय' नाम क्यों नहीं रखा ? मां के प्रति श्रद्धा व्यक्त होती।"

मन्दिरा दूसरी तरफ देखकर बोली, "केवल बालिकाएं ही तो नहीं हैं, मौसी ! बालक भी हैं। और सच पूछो तो बालक-बालिकाएं भी नहीं,

यहां तो सिर्फ़ बच्चे पढ़ते हैं।"

मौसी नाराज होकर बोली, "बात एक ही है। नाम पर कौन इतनी सूक्ष्मता से विचार करता है। नाम बदलकर मां के नाम पर रख देना।"

मन्दिरा बोली, "सोचूंगी।"

पर 'कमलकली' पाठशाला अपने नाम से ही चलती रही।

"नाम तो कोई बुरा नहीं। अर्थ-व्यंजक है।" मन्दिरा ने अभिजित से कहा, जिसके सामने वह हमेशा से अपनी निरंकुश राय जाहिर करती आयी थी।

वैसे इधर इनकी भेंट कभी-कभार ही होती थी। बिजनबिहारी की मृत्यु के बाद अभिजित ने इस घर में आना करीब-करीब छोड़ ही दिया था। पारिवारिक चिकित्सक का दायित्व भी अपने चैम्बर में बैठकर ही निभा लेता था। बच्चों की खांसी या पेट-दर्द का इलाज ही तो करना था। सुनन्द रोगी को पकड़कर चैम्बर तक पहुंचा देता।

भगवान की कृपा से किसी को कोई बड़ी बीमारी हुई नहीं। बिजनबिहारी इस संसार का बोझ हल्का कर गए थे।

मन्दिरा एक तरह की खुशी में ही दिन काट लेती थी। हल्का जोशीला-सा आनन्द। घर में कोई बीमार नहीं होता, इसलिए डॉक्टर को बुलाना नहीं पड़ता था। यह कोई अफसोस की बात है, ऐसा सोचने की बेवकूफी मन्दिरा नहीं करती और डॉक्टर के मकान और अपने मकान के बीच के मैदान में एक बड़ी-सी बिल्डिंग ने दोनों घरों को अलग कर दिया, इस बात को लेकर भी वह अफसोस करे, मन्दिरा इतनी नासमझ भी नहीं थी। छत पर बैठकर दृष्टि को दूर तक फैला दे, इतनी फुरसत भी उसे नहीं थी।

बल्कि उस नयी बिल्डिंग के अनगिनत घरों के बच्चों ने जब स्कूल में दाखिला लिया तो मन्दिरा को लाभ ही हुआ।

प्रख्यात डॉक्टर अभिजित दास कभी-कभी स्कूल के किसी जलसे में सभापति या प्रधान अतिथि का निमंत्रण पाकर आता था क्योंकि मन्दिरा कहती थी—"समझा न सुनन्द, किसी डॉक्टर को हाथ में रखने से फ़ायदा

होता है, नहीं तो बाद में पहचानेगा भी नहीं। जब से नाम बढ़ा है, अभिदा तो चौखट तक नहीं लांघता।"

इधर डॉक्टर मन्दिरा से कहता, "तुम्हारे स्कूल का नाम ही अर्थ-भरा नहीं, अर्थ लाता भी है, क्यों ?"

मन्दिरा के लावण्य से भरपूर तेईस साल कब के खो गए थे। उसके कंठ की झंकार भी अविरल बोल-बोलकर, शिशु-पाठ पढ़ाकर सूख चुका था। पर आंखों में चमक अब भी थी। बोली, "बुरा होने पर खुश होते ?"

"मुहल्लेवालों का तो ऐसा ही होता है।"

मन्दिरा की आंखें धधक उठीं। बोली, "सिर्फ मुहल्लेवाले ही क्यों, उस दिन मेरे साधु मामा अपने किसी गुरु-भाई की लड़की को भर्ती करने आए थे। फीस सुनकर जनेऊ तोड़कर अभिशाप देना ही बाकी रखा। कलियुग में तपस्या के तेज में ताकत नहीं, नहीं तो उसी वक्त जल जाती। पर जलने लगे वे खुद। बोले—"बित्ते भर के बच्चों के लिए पन्द्रह रुपये फीस ! यह तो गले पर चाकू चलाना है। भली मां की बेटी होकर पक्की बनिया बन बैठी, यह सोचकर ताज्जुब हो रहा है।"

अभिजित हंसकर ही बोला, "तुमने क्या कहा ?"

"क्या कहती ? चाकू जाकर कहां-कहां लगा, यही समझने की चेष्टा कर रही थी।"

अभिजित चारों तरफ ताककर बोला, "अच्छा, यह घर इतना बड़ा क्यों दिख रहा है ? इतना ही बड़ा था क्या ?"

मन्दिरा हंस पड़ी। बोली, "चलो, छोटी-सी बात नजर में तो आयी। घर बढ़ाया है। साथ में जो छोटा-सा कमरा था, फालतू सामान से भरा हुआ, उसमें से कूड़ा-कर्कट हटाकर बीच की दीवार तुड़वा दी है।"

अभिजित धीरे से बोला—"दीवार तोड़कर कूड़ा हटाकर खुला कमरा बनाने की क्षमता क्या सिर्फ ईंट-काठ तक ही सीमित रहेगी ?"

मन्दिरा बोली, "ईंट-काठ ही अच्छा है। प्रतिवाद की भाषा नहीं जानते।"

स्कूल की प्रतिष्ठात्री जलसे के चीफ गेस्ट के पास बैठकर धीरे-धीरे बातचीत करे, कोई नयी या आश्चर्य की बात नहीं थी। छात्र-छात्राओं के

अभिभावक ध्यान नहीं देते। वे अपने बच्चों की कविता, अभिनय, नाच-गाने में ही मस्त रहते।

प्रधान अतिथि धीमी आवाज़ में बोलता, "तुम्हारे व्यवहार से मैं हैरान हूं। इतने सुख में हो कि इतने सालों में एक बार बीमार तक नहीं पड़ीं।"

मन्दिरा बोली, "इतने मरीज हैं तुम्हारे, इतना नाम है, फिर भी मरीजों के लिए यह कंगलापन क्यों ?"

"उचित फीस देता ही कौन है, कहो ?"

"मुझे भी ताज्जुब लगता है कि ऐसे नामी डॉक्टर की किस्मत में मन लायक एक भी रोगिणी नहीं जुटी।"

"यही तो बात है। यह जो बीच की बिल्डिंग है, इससे तुम्हें बहुत फायदा है न ?"

"तुम्हें भी तो कुछ कम फायदा नहीं पहुंचता। जो हमारे विद्यार्थी हैं, वे ही तुम्हारे रोगी। साथ में उनका परिवार भी। करीब बावन फ्लैट हैं न ?"

"बावन नहीं, बहत्तर।"

"तब तो और भी फायदा है।"

अन्त में पुरस्कार बांटे गए। प्रतिष्ठात्री ने सभी को धन्यवाद दिया। सम्पादक ने स्कूल का विवरण पढ़ा। सम्पादक था सुनन्द, मन्दिरा का छोटा भाई। हाल ही में बी०एस-सी० की परीक्षा दी थी। उसकी छुट्टी के अनुसार ही यह प्रोग्राम रखा गया था।

अभिजित बोला, "सुनन्द तुम्हें बहुत सहायता करता है न ?"

"सुनन्द मेरा दाहिना हाथ है।" मन्दिरा कोमल स्वर में ही बोली, "उसी के भरोसे तो इस काम में हाथ डाला था। कितना-सा था वह उस समय।"

"इसके बाद क्या करेगा ? क्या मन है उसका ?"

"इच्छा तो बहुत कुछ है।" मन्दिरा बोली, "पर हिम्मत कहां ? विदेश भेज सकती तो···पर वह तो होने से रहा। किसी ग्लास फैक्टरी में घुसाने की कोशिश में हूं। बाद में संभवतः फैक्टरी ही विदेश भेज दे।"

"एक के बाद एक, गणित के हल की भांति सब तय कर रखा है।"

अभिजित बोला, "पर स्लेट के किसी कोने में एक सवाल का अभी भी हल नहीं निकाला तुमने।"

मन्दिरा ने धीरे से आंखें उठाईं। बोली, "वह तो छुट्टी का टास्क है। सुनन्द को अपने पैरों के बल खड़ा कर दूं, तब तो छुट्टी मिलेगी।"

"सुनन्द तुमसे सात-आठ साल छोटा है न?"

मन्दिरा अप्रतिभ होकर भी हंसी। बोली, "समय तो कट ही रहा है।"

हां! समय कट ही रहा था। मन्दिरा ने तो मौसी को कहा ही था कि काटने वाले औजारों की कमी नहीं।

स्कूल के सभी जलसों में डॉक्टर बाबू की मां की हैसियत से अभिजित की मां को भी एक निमंत्रण-पत्र मिलता था। चद्दर ओढ़कर वृद्ध महिला जाती भी थी। मन्दिरा की क्षमता देखकर हार्दिक खुशी होती। घर लौटकर लड़के से कहती, "कितनी अच्छी लड़की है, क्या कहूं? उम्र में छोटी है पर ब्राह्मण की बेटी है, इसलिए कहने को जी चाहता है, वह पैर की धूल लेने लायक लड़की है। कैसा अपने को बनाकर रखा है—अपनी आंखों से सब कुछ देख रही हूं। बाप की सेवा, जापे की बच्ची को बचा लेना, और भी तीन को पालना—कोई आसान काम है? एक दिन के लिए भी किसी से सहायता नहीं मांगी—न पैसों की, न ही किसी और चीज़ की। बाप तो एक तरह से सड़क पर ही छोड़ गया था।" कहते-कहते अभिजित की बूढ़ी मां उत्तेजित हो उठती।

अभिजित हंसकर कहता, "मां, तुम तो इतना नाराज होकर कह रही हो जैसे मैं तुम्हारी किसी बात का प्रतिवाद कर रहा हूं।"

"नाराज क्यों होऊंगी, बेटा! कह रही थी, लड़की के गुण कितनों की आंखों में खटकते हैं। मंजू की मां कह रही थी—अपनी कोशिश से थोड़े ही इतना होता है। जरूर किसी की सहायता मिलती रहती है।"

अभिजित ने मां की तरफ देखा। सरल विश्वास का चेहरा। प्यार और ममता से भरा हुआ।

अभिजित बोला, "तुम्हारी उस मंजू की मां की दूरदृष्टि है, मानना ही पड़ेगा।"

"मैंने भी उसे डपट दिया। बड़ा गुस्सा आ गया था। कहा—'कहां, क्या लुक-छिपकर हो रहा है तुम्हें कैसे मालूम ?" उस पर वह कहती है— "सब कुछ क्या देखने के बाद ही जाना जाता है ?"

अभिजित की मां मन्दिरा को सचमुच ही प्यार करती थी। बोली, "देखा तूने ? सब कुछ कितना जंचाकर रखा है, सचमुच ही स्कूल-सा लगता है।"

अभिजित हंस पड़ता, "गजब हो जाएगा, मां ! ऐसी बात उसके सामने कभी मत कहना।"

"अरे, वाह ! उससे तो मैं पहले ही कह चुकी हूं। प्रशंसा की बात नहीं कहूंगी ?"

"अच्छा ही किया। क्या कहा सुनकर ?"

"बोली, सचमुच का स्कूल बन सके, इसी कोशिश के लिए प्रण किए बैठी हूं, मौसी !'

"ऐसी लायक लड़की की शादी नहीं हुई। अपनी घर-गृहस्थी कुछ नही।" अभिजित की मां ने लम्बी सांस छोड़ी।

अभिजित ठहाका मारकर बोला, "तुम भी मां बड़ी वो हो। उसके लिए तो शिकायत नहीं करती, सारा दोष मुझे ही देती हो। तुम्हारे मां-बाप को तुम्हारा नाम सुमति न रखकर, दुष्टमति रखना चाहिए था।"

सुमति भी हंसकर कहती, "तू तो ऐसा कहेगा ही। तेरे साथ उसकी क्या बराबरी ! मां-बाप की गृहस्थी के झमेले में पड़कर बेचारी को ब्याह करने की फुरसत ही नहीं मिली। और फिर देख-सुनकर उसकी शादी का इन्तजाम भी कौन करेगा ? शैतान कहीं का ! उसके साथ अपनी बराबरी करता है ? तेरे जिम्मे कौन-सा झमेला है, बोल ?"

"क्या कहती हो, मां ? झमेला कुछ नहीं ? सारी दुनिया के मरने-जीने की समस्या क्या कोई झमेला नहीं ?"

"रहने भी दे। फिर तो दुनिया का कोई भी डॉक्टर शादी नहीं करता।"

"अच्छी बात है मां, तुम्हारे आगे हार मानता हूं।"

"तर्क में हार मानने से फायदा क्या ? मेरी इच्छा के आगे हार माना

कभी ? किसी लड़की को देखने तक तो मैं तुझे भेज नहीं पायी।" सुमति का कंठ भर आया।

अभिजित ने हंसकर कहा, "एक तरह का इन्जेक्शन निकला है, मां। रोते बच्चे-बच्चियों का इलाज किया जाता है उससे। सोच रहा हूं, तुम पर भी उसका प्रयोग करूं।"

सुमति झल्लाकर उठ गयी। पर वह भी मानो इस जीवन से अभ्यस्त हो गयी थी—इस निर्मल एकाकीपन में, एकछत्र,दायित्वहीन हल्की गृहस्थी में। अब लड़के की शादी की बात पर अवचेतन में थोड़ा भय ही होता था कि क्या पता, कौन-सी विपत्ति आए। फिर भी आदत के मुताबिक शादी की बात उठाती, और आदत के अनुसार गला भी रुंध जाता।

उधर विजनविहारी और वंदना की गृहस्थी की तो बिलकुल कायापलट हो गयी थी। पहचानना मुश्किल था। वंदना के समय के मैले बिस्तर, फटे तख्तपोश, फटी मसहरी ने नयी चीज़ों के लिए जगह छोड़ दी थी। अब सभी कमरों में सस्ती पर परिष्कृत चीज़ें थीं।

मन्दिरा के चाचा-चाची कभी-कभार आते, कर्तव्य में कमी नहीं दिखाते। पिता के श्राद्ध के समय मन्दिरा को फल-मिठाई भेजी, सुनन्द को नहाने के बाद नये कपड़े दिए। और मन्दिरा को बहुत बार पूछा भी कि अब वह क्या करेगी ?

क्या करेगी, मन्दिरा उस दिन जवाब नहीं दे सकी थी, पर क्या किया है, वह जवाब बनकर आज आंखों के सामने था।

चाचा-चाची जलसे के दिन भी आए थे। चारों तरफ नजर दौड़ाकर चाची ने पूछा था, "गोदरेज की यह अलमारी नयी ली है न ?"

मन्दिरा बोली, "हां, पर कई दिन हो गए।"

चाचा हंसकर बोले, "स्कूल से खूब पैसे बना रही हो न ? उफ ! आजकल नर्सरी क्या खोला, प्रबन्धकों की बस चांदी हो जाती है। पन्द्रह, बीस, पचीस तक फीस देना कोई मामूली बात है। एम० ए० पढ़ते समय भी मैं इससे कम ही फीस देता था।"

चाची अवहेलना के साथ बोली, "और फिर पढ़ाई-लिखाई भी तो

कुछ नहीं होती। देख ही रहे हो, मन्दिरा की पाठशाला में खेल ही तो ज्यादा होता है। खेल-खेल में पढ़ाया जाता है, इसका मतलब खेल ही तो है।"

"इसके माने खेलने के लिए वीस रुपये ? क्या फायदा ?" हा-हा-हा-कर हंस उठे मन्दिरा के चाचा।

निर्जनबिहारी।

चाची चुप रहना जानती नहीं। बोली, "फायदा किसे पहुंच रहा है, दिख ही रहा है। एक बार दीदी और जेठ की गृहस्थी की बात सोचो। तब और आज में क्या फर्क आया है। इसके बाद तो सुनन्द की कमाई भी जुड़ेगी। खामखा तुम सरकारी गोशाला में घिसते रहे। इससे तो अच्छा होता कि स्कूल खोलते। विना खर्च, विना मेहनत भविष्य बन जाता।"

पत्नी की बात सुनकर चाचा थोड़ा सहमे। बोले, "विना खर्च कह सकती हो पर विना मेहनत कैसे कहा जा सकता है ? बेचारी को क्या कम मेहनत करनी पड़ी है स्कूल को चलाने के लिए।"

चाची होंठ उलटकर बोली, "दो मंजिल से उतरकर नीचे तल्ले पर नौकरी। सज-धजकर थोड़ी देर आ बैठना, यही नौकरी है न ?"

मन्दिरा बोली, "हां, चाची। और नहीं तो क्या !"

जलसे के बाद चाय-वाय का झमेला निबटने पर मन्दिरा लेट गयी। चाची चिल्लाकर बोली, "अरे मन्दिरा, तेरे बालों में क्या चमक रहा है ! अरे, बाल पक गए ?" बाल पकने की उम्र नहीं थी मन्दिरा की, फिर भी काले बालों के गहन अरण्य में से चाची ने एक सफ़ेद बाल निकाल ही दिया। चाची के मन का बोझ थोड़ा हलका हुआ। बोली, "तेरी शादी तो अब होने से रही। बाल ही सफ़ेद कर लिये हैं तूने।"

खैर, वंदना और विजनबिहारी की बड़ी लड़की के तो बाल सफ़ेद हो चुके थे, पर बाकी लड़कियां कहां गयीं ? छन्द मिलाकर जिनके नाम रखे गए थे, वे सब कहां गयीं ?

आपने देखा नहीं अभी तक ? मोटी-सी, गठी हुई, फ्राक पहने हुए जो लड़की कोकाकोला बांट रही थी, वही तो सबसे छोटी है जिसे वंदना

चार दिन की छोड़कर गयी थी। वाप की वात टालकर भी मन्दिरा ने छन्द मिलाकर जिसका नाम रखा था छन्दिता। चार वहनों में सवसे सुन्दर वही निकलती अगर रंग थोड़ा दवा-हुआ न होता। पर शरीर के गठन ने मानो रंग की कमी को पूरा कर दिया। मन्दिरा की सफलता का वह जैसे एक सर्टीफिकेट थी।

और वह जो किशोरी लड़की दीख रही थी, जिसने शौक से आज पहली वार साड़ी पहनी थी, वही तो नन्दिता थी। मां के मरने के वाद वहुत दिनों तक आधी रात में भी चील की तरह चिल्लाती थी, खाने के लिए रोती थी। हज़ारों अभावों के वीच में जिसके सिरहाने विस्कुट और पेड़े रखने पड़े थे।

नन्दिता ने आज वालों में सावुन लगाया था। हलके नीले रंग की नायलॉन की साड़ी पहन रखी थी।। तरुणी दीख रही थी। और इन्दिरा? वह तो युवती ही वन गयी थी। दूसरी टीचरों के साथ वैठी हुई थी। इधर वह भी पढ़ाने लगी थी। सुन्दर-सा चेहरा, गोरा-चिट्टा शरीर, थोड़ा-सा भारीपन लिये। सुनन्द के पास वैठने पर उसकी वड़ी दीदी दीखती थी। स्वभाव मीठा पर गम्भीर। सुनन्द से उसकी वड़ी पटती थी।

पर नन्दिता अकसर सुनन्द से लड़ पड़ती। उलझ पड़ती। ये झगड़े, खेल, हंसी और गाने—इन्हीं के वीच मन्दिरा जी रही.थी, सुखी थी। दीदी पर इन लोगों का अगाध प्यार था। सभी दीदी पर हर वात के लिए निर्भर थे। सभी की जुवान पर 'दीदी, दीदी' की रट रहती। जीवन की यह सार्थकता क्या कुछ कम थी? अच्छा ही तो समय कट रहा था।

चाचा-चाची के रहते ही वे सभी उठकर ऊपर आ गए। सुनन्द के हाथ में रवीन्द्रनाथ की वड़ी-सी तसवीर थी। इन्दिरा के हाथ में एक फूलदान। नन्दिता और छन्दिता के हाथ में पूजा के फूल, शांति-जल, धूपदान और मंगल कलश था।

निर्जनविहारी अचानक पूछ वैठे, "अरे, उनकी तसवीर कहां है? भैया की तसवीर?"

"भैया की ?" मन्दिरा अचरज से देखने लगी। वोली, "किसकी तसवीर के वारे में कह रहे हैं?"

"भैया के लिए कह रहा था। भैया के मकान में जब स्कूल खोला है।"

मन्दिरा को लगा, मौसी ने ही चाचा को यह बात सिखाई थी।

चाचा फिर बोले, "तुम्हें भैया का नाम रोशन करना चाहिए था।"

मन्दिरा कठोर नहीं बनी। दृढ़ होकर बोली, "चाचा, मैं तो लड़की हूं। बाबूजी के नाम की रक्षा करने का डिपार्टमेंट सुनन्द का है।"

चाचा कुछ बोलें, उसके पहले ही चाची बोली, "लड़की का दायित्व परायी हो जाने पर नहीं रहता, तू तो अभी परायी हुई नहीं, फिर दायित्व से कैसे बचेगी? जो बाप का सब कुछ भोगता है, दायित्व उसी का होता है।"

मन्दिरा ने चाची को देखा।

निश्चिन्त, निर्लिप्त चेहरा।

क्या मन्दिरा कह सकेगी मकान तो मेरे बाबूजी का बनाया हुआ नहीं है, चाचा। आपका मकान भी आपका बनाया हुआ नहीं। आपके पिताजी ने अपने दो बेटों के लिए अलग-अलग मकान बनाए थे पर अपने बाप के नाम को रोशन करने के लिए आप लोगों ने अब तक क्या किया?

पर नहीं, मन्दिरा झगड़ा नहीं करना जानती थी। इसलिए चुप ही रही।

चाची बोली, "इन्दु तो उम्र के लिहाज से ज्यादा बड़ी दिखती है।"

मन्दिरा धीरे से बोली, "हां, उसकी बनावट ही कुछ ऐसी है।" बहनों में इन्दु ही सबसे गोरी है।

इसके बाद एक बार और चाय पीकर वे लोग विदा हुए। केवल जाते समय चाची ने अपनी अधिकार की बात सुनायी, "इन्दु, सुनन्द! यह देख, मन्दिरा के सिर से क्या निकला है।"

पका हुआ वह बाल चाची ने सबकी आंखों के आगे फैलाकर दिखाया। ताज्जुब है, अभी तक उसे संभाले बैठी थी।

उनके जाते ही इन्दिरा गम्भीर होकर बोली, "ऐसे आदमियों की भी खातिर तुम कैसे करती हो, दीदी! मैं हैरान रह जाती हूं।"

मन्दिरा थकान भरी हंसी हंसकर बोली, "कैसे नहीं करूं, रे ? ये ही तो इस दुनिया में हमारे सबसे अधिक अपने हैं।"

"किसी भी जन्म में दुनिया में कोई भी अपना न रहे वह ही अच्छा। तुम्हारे सफ़ेद बाल को देखकर खुशी से मानो उछल रही थीं।"

"धत्, यह तो तेरे मन का भ्रम था।"

"ठीक है। वे बड़े महान व्यक्ति हैं ! हम ही पापी हैं जो समझते नहीं।"

"अरे बाबा, सारा मूड खराब कर दिया न।"

तभी नन्दिता ने आकर दोनों हाथों में दीदी को थाम लिया। आह्लाद-भरी आवाज़ में बोली, "दौड़ी-दौड़ी आ रही हूं, यह जानने के लिए कि गाना कैसा हुआ ? साड़ी पहने कैसी दिख रही हूं ? बताओ न दीदी, गाना कैसा लगा ?"

"बहुत बढ़िया। छोड़ मुझे, दम घुट रहा है।" मन्दिरा बोली।

"बस ! दम घुट गया ? और मोटी छन्दा जब तुम्हारी गोद में बैठती है, तब ?"

"दीदी, देख रही हो, हर समय मोटी-मोटी सुनना मुझे अच्छा नहीं लगता।" छन्दा झल्ला उठी।

"मोटी को मोटी नहीं कहूं तो क्या बांस की पत्ती कहूं ?"

"ठीक है। तेरी जैसी मरकुट्टी कौन-सा अच्छा दीखती है ?"

"मैं मरकुट्टी !" नन्दिता हंस पड़ी, "मेरा शरीर आइडियल है, समझी। न दुबली, न मोटी, न नाटी, न लम्बी···।" नन्दिता ऐसी ही हंसमुख-चंचल लड़की थी।

फिर भी मन्दिरा ने दिखावटी डांट पिलायी। बोली, "भैया बैठा है, यह भी नहीं देखती !" अर्थात् भाई के सामने रूप-चर्चा की जरूरत ही क्या।

नन्दिता इस डांट की परवाह किए बिना बोली, "ओ, भैया ? कितने बड़े भैया हैं ?"

सुनन्द बोला, "दीदी, तुम्हारे सामने ही वह वाचाल हो उठती है, तो फिर मुझे कौन मानेगा ? पर खाना-पीना कब होगा ? तुम्हारे स्कूल के

हलके जलपान से तो पेट में चूहे दौड़ रहे हैं।"

"वाह रे, मुन्ना ! दीदी, तुम्हें चाहिए कि सुनन्द के गले में दूध की एक बोतल लटका दो।" नन्दिता ने राय दी।

"तू चुप रह।" कहकर मन्दिरा उठ पड़ी।

भूख लगना स्वाभाविक था। सुबह से ही सुनन्द खट रहा था। कई दिनों से ही खटना पड़ रहा था। जलसा चाहे कितना भी छोटा क्यों न हो, मेहनत तो होती ही है।

सुनन्द ने दीदी से पूछा, "तुम्हारे स्कूल के जलसे के उपलक्ष्य में खाना तो कुछ जुटेगा न ?"

मंदिरा हंसकर बोली, "तुझे तो बस एक ही चिंता। मिलेगा रे।' फिर रसोइए से पूरी उतारने को कहा।

इस व्यस्तता में मन्दिरा के मन से सफ़ेद बाल की ग्लानि न जाने कब मिट गयी।

रसोईघर तो वही पुराना ही था, सिर्फ़ रसोईया बदल गया था। एक छोकरा नौकर भी था। स्कूल के हिसाब के खाते पर उसका नाम चढ़ा हुआ था। स्कूल सुबह का था। उसके बाद वह घर का काम-काज कर लेता था।

अर्थात् मन्दिरा के घर में रसोइया भी था, नौकर थे, यहां तक कि बर्तन मांजनेवाली पुरानी नौकरानी को भी उसने नहीं छुड़ाया था। भाई-बहनों को अब मन्दिरा रोटी, सब्जी के बदले डबलरोटी, मक्खन, केक, बिस्कुट खिला सकती थी। मन होने पर पूरी-रबड़ी भी खिलाती। खिड़की-दरवाज़ों पर रंगीन पर्दे लटकते, फूलदान से कमरा सजा होता। इन्हीं सब बातों के लिए मन्दिरा की मौसी, चाची, मामी—सबके मन में जलन होती।

मां-बाप के मरने पर मन्दिरा ने किसी के आगे हाथ नहीं फैलाया था, सिर ऊंचा कर खड़ी थी। लोगों को बुरा लगना स्वाभाविक था।

विवाह-योग्य लड़की। जिसकी शादी के लिए मरते समय भी मां बेचैन थी, उसने अपनी शादी की चिंता भूलकर मां के छोटे अव्यवस्थित

घर और बच्चों को समेटकर उसे एक मंदिर बना डाला था, रिश्तेदारों के लिए तो यह अपमान ही था। उनके बदन पर तो मानो इस लड़की ने मुट्ठी भर धूल झोंक दी थी।

पर मन्दिरा के फुफेरे भैया और भाभी मानो पवित्र खुशी की लहर लेकर आते। मन्दिरा की महिमा से वे मोहित थे। कहते, "हम लोगों का गौरव है मन्दिरा। अपनी कोशिश से इतना कुछ कर दिखाया।"

मन्दिरा बोली, "सिर्फ़ मेरी चेष्टा से इतना नहीं हो सकता था। सुनन्द ने भी 'कमलकली' के लिए बहुत किया है। मुझसे सात साल छोटा है, पर है बड़े भाई के समान।"

इसी तरह प्यार, ममता और स्नेह से मन्दिरा ने भाई-बहनों को ऊंचा उठाया।

मन्दिरा के मन की शून्यता को भी तो इन्हीं लोगों ने भर रखा था। उस दिन फुफेरे भैया-भाभी मिलने आये तो कहने लगे, "तो तूने शादी नहीं की ?"

मन्दिरा हंस पड़ी। बोली, "बस। और मत कहो। खास खबर कुछ मालूम भी है। सिर से सफ़ेद बाल निकला है।"

मीरा भाभी डपटकर बोली, "रहने दे अपनी खास खबर। सुना तो था कि कहीं तेरे लिए एक कुंआरा बुड्ढा भी बैठा है। निराश, अभागा प्रेमी।"

मन्दिरा सूखे चेहरे से बोली, "धत् भाभी, चुप भी करो। कहीं कोई सुन लेगा। सब पके उस्ताद हैं।"

"पकेंगे क्यों नहीं ?" मीरा ने मुंह बनाया, "देश में सिनेमा नहीं, पत्र-पत्रिकाएं नहीं ? बाज़ार-बस्ती में रस-भरे गाने नहीं बजते ? बालिग और नाबालिग का भेद तो कब का खत्म हो चुका है।"

"यही तो मुश्किल है, भाभी।" मन्दिरा बोली, "मां-बाप ही सिनेमा-स्टारों के नाम पर बच्चों का नामकरण करते हैं और बच्चों को उस विषय के बारे में सजग कर देते हैं। अपने ही स्कूल से ढेर सारे उदाहरण दे सकती हूं।"

मीरा बोली, "तो फिर बात को गोपनीय बनाने में क्या धरा है ?

ज्ञान-वृक्ष के फल को जब लोगों ने चख ही लिया तो तुम भी अपना फल निश्चितता से चबाओ।"

"तुम्हारा सिद्धांत बुरा नहीं है, भाभी !"

"बुरा ? अरे भाई बोलो, फर्स्ट क्लास। पर देखो भाई, मैं तो कर्तव्य के नाम पर इस तरह उपासी नहीं रहती। क्या शादी के बाद कर्तव्य नहीं निभाया जा सकता ? दोनों मिलकर कर्तव्य निभाते। एक और का बल भी तो तुम्हें चाहिए।"

भाभी के इस हंसी-मजाक को मन्दिरा सहज मन से ले नहीं पाती। शायद उसके लापरवाह ढंग से कहने के कारण।

पर मन्दिरा स्वयं ही क्या कुछ कम लापरवाह थी ? जो जी में आता, बक देती। पर बस अभिजित के सामने ही तो। अभिजित कहता भी—"तुम्हारे मुंह में कुछ भी नहीं अटकता ?"

भेंट तो कभी-कभार ही होती थी। पर मौका मिलते ही मन्दिरा बोलती, "तुम्हारा चेहरा दिन पर दिन कैसा होता जा रहा है, मालूम है ? बुड्ढा-ब्रैंड बैचलर... अहा ! जब अपनी गाड़ी पर निकलते हो, राह चलते लोगों को भी जरूर तुम पर दया आती होगी।"

अभिजित बोला, "पर मेरा मन तो 'ओल्ड मेड' को देखकर करुणा से द्रवीभूत हो जाता है।"

"मेरे चेहरे पर तुम्हारे जैसा बुढ़ापा नहीं।" मन्दिरा बोली।

"यह बात स्वयं के लिए समझ में नहीं आती।" अभिजित बोला।

"बस-बस ! मालूम है, बच्चे मुझे कमलकली दीदी कहते हैं।"

"बच्चे तो अपनी नानी-दादियों से भी ऐसे ही प्यार किया करते हैं।"

"ईर्ष्या की बात मैं नहीं मानती।"

"अगर मुझे सफ़ेद बाल की खबर नहीं मिलती, तब भी ?"

मन्दिरा अचानक चुप हो गयी। स्थिर हो गयी। बोली, "यह खबर तुम्हें किसने दी ?"

"किसी ने भी दी हो, झूठ तो नहीं है।"

मन्दिरा भौं तानकर बोली, "तो फिर मुंह क्यों लटका रहे हो ? अब आशा छोड़ो। कोशिश जारी रखने पर दुल्हन अब भी जुट जाएगी। पैसे

वाले बुड्ढे से शादी करने वाली लड़कियों की कमी नहीं।"

अभिजित ने कहा, "जो जी में आए बक डालती हो।"

फिर भी अभिजित की बातचीत का ढंग बहुत बदल गया था। यह स्वाभाविक भी था।

मन्दिरा के चारों तरफ नये प्राण का ज्वार था। मन्दिरा के घर में 'कमलकली' के बच्चों की मुसकानें थीं। उससे मन्दिरा को उत्साह मिलता, बच्चों की खुशी के सौरभ से उसे नया जोश मिलता।

मन्दिरा जब क्लास में पहुंचती, 'मन्दिरा दी,' 'मन्दिरा दी', 'कमलकली दीदी' कहकर बच्चे गुंजन करते। बच्चे अपने छोटे हाथों से मन्दिरा को थाम लेते। एक मुट्ठी फूल की तरह गाल फुलाकर शिकायत करते, "मन्दिरा दी, उसने मुझे मारा है।"

स्कूल के बाद मन्दिरा ऊपर आती। नन्दिता पंख जैसा हलका शरीर लिये मन्दिरा के शरीर पर लुढ़क जाती। कहती, "दी-दी···दी-दी, तुम सिर्फ़ अपना स्कूल लेकर रहोगी? मेरी स्कूल की बात नहीं सुनोगी? कल क्या हुआ, मालूम है?"

इन ताजे प्राणों के बीच मन्दिरा रहती। तो फिर मन्दिरा क्यों बुझती? स्कूल को और बढ़ाने के काम में वह दौड़-धूप करती रहती। बच्चों के लिए विलायती शिक्षा-प्रणाली की किताबें मंगवाती, स्कूल के नये नियम बनाने में उलझी रहती।

और अभिजित? उसके चारों तरफ केवल हैजा, टायफायड, गठिया, हंफनी, ब्लड-प्रेशर, थाम्ब्रोसिस, पैरालेसिस, डायबिटीज़ के रोगियों की भीड़ लगी रहती। बच्चों को भी वह बीमारी की विभीषिका के बीच ही देख पाता। मनुष्य को बुखार से विवर्ण, मृत्यु से नील और मृत्यु-पथ-यात्री के निकट जनों का आर्तनाद—'डॉक्टर साहब, अब क्या होगा? डॉक्टर साहब, इसे अच्छा कर दीजिए।' अभिजित के दिन और रात इन्हीं आर्तनादों और यंत्रनाओं के बीच बीतते। जब रोगी को पथ्य मिल जाता, तब अपना हंसता हुआ चेहरा लेकर कौन जाता है डॉक्टर से

मिलने ? खतरनाक बीमारी से उठकर पति जब पत्नी को बांहों में बांधता है, प्यारभरी आंखों से उसकी ओर देखता है, उस सुन्दर मिलन को दिखाने के लिए डॉक्टर के पास कौन जाता है ? मौत के साथ लड़ाई में जीतकर जब कोई गृहिणी अपने प्रिय परिजनों के बीच त्योहार मनाती है तो उस त्योहार का निमंत्रण-पत्र डॉक्टर के घर नहीं पहुंचता। रोग ठीक होते ही डॉक्टर से रिश्ता ढीला हो जाता है।

और एकाध जन यदि याद रखता है तो अत्यन्त व्यस्त डॉक्टर के पास समय कहां होता है ? उस समय वह किसी दूसरे रोगी के सिरहाने बैठा मिलता है। डॉक्टर सिर्फ़ दुख देखेगा, यंत्रणा देखेगा, 'कमलकली'-सा तारुण्य उसे कहां देखने को मिलेगा ?

इधर अभिजित ने मां की सुविधा के लिए एक विधवा मौसेरी बहन को बुला लिया था। पर वह भी अभिजित से सिर्फ़ अपने रोग की ही चर्चा करती।

"पेट ठीक नहीं है, एकाध पुड़िया बना दे न, अभिजित ! ...पीठ में कई दिनों से दर्द है, क्या करूं, बता न रे। जीने पर चढ़ते ही सांस भारी हो उठती है, दिल की बीमारी तो नहीं हो रही है ?" इसी तरह की असंख्य बातें। अभिजित धीरे-धीरे बुझता जा रहा था। बदलता जा रहा था।

पर अभिजित ही क्यों ? सारी दुनिया ही तो हर पल रंग बदल रही थी, नहीं तो सुनन्द इतना कैसे बदल जाता ? जिसने अपनी बुद्धि के उन्मेष में यह अनुभव किया था कि मैं अपने पैरों के बल खड़ा होते ही दीदी को इन सब कामों से छुट्टी दे दूंगा।

सुनन्द दीदी से डरता है, उसे प्यार करता है, उसके प्रति श्रद्धा है। उससे भी अधिक दीदी के प्रति उसके मन में ममता है। दीदी की तपस्या, आत्मबलिदान, अभाव के बीच भी सबको सुखी रखने की इच्छा उसने हृदय से अनुभव की है। दीदी और अभिदा के बीच कहीं कोई मिठास-भरा गहरा रिश्ता है, यह भी उसने बचपन से ही अनुभव किया है।

पिता की बिखरी गृहस्थी को अच्छी तरह संवारने की लगन में दीदी

अपनी बात भूल रही है। अपने यौवन की वेदना को दूर हटा दिया है। सुनन्द सब समझता है। इसलिए हमेशा से सोचता आया है— मैं लायक बनते ही दीदी को मुक्ति दूंगा।

सुनन्द को लायक बनाए बिना मन्दिरा को भी तो चैन नहीं। उम्र में मन्दिरा से सात साल छोटा होकर भी ममता-भरे मन से बड़े भाई की तरह सुनन्द ने सोचा है—बड़ा होकर कमाना शुरू करते ही वह दीदी की शादी कर देगा। बचपन की कल्पना में घंटों उसने सोचा है कि वह कौन-कौन-से जेवर दीदी को पहनाएगा। बड़ी धूमधाम से दीदी की शादी करेगा।

उसे याद है, बाबूजी के रहते दीदी ने गले की चैन सुनार को बेचकर सुनन्द के लिए किताबें खरीदकर दी थीं, स्कूल की फीस भरी थी। यह बात कांटे की तरह सुनन्द के मन में चुभी हुई थी। अक्सर दीदी 'भूख नहीं है' कहकर अपना नाश्ता सुनन्द की थाली में डाल देती थी। बड़ा होकर यह बात भी सुनन्द से छिपी नहीं थी। इसलिए उसके दिमाग में एक ही चिंता थी— वह कैसे दीदी को कष्ट से मुक्ति दिलाए, दीदी को खुश करे, उसे आराम पहुंचाए, उसकी गृहस्थी बसा दे? फिर भी तो सुनन्द बदल गया था।

इसमें सुनन्द का क्या अपराध?

यह तो नित्य परिवर्तनशील ममताहीन दुनिया का दोष था।

अपराध चाहे जिसका भी हो, इस आघात से मन्दिरा दिशाहारा हो उठी थी। उसे विश्वास ही नहीं हो रहा था।

पर सुनन्द ने हंस-हंसकर ही यह खबर सुनायी थी। क्योंकि सुनन्द बदल चुका था। वह अपने अतीत को भूल चुका था। सुनन्द उस समय सोच रहा था—सुनन्द केवल लिलुआ की उस रबर कम्पनी का केमिस्ट था, वही उसका अस्तित्व था। वीर शिकारी की भांति उसने अपना निर्णय सुना दिया। शब्दहीन आर्तनाद से किसी का हृदय कितना टूटा, यह वह देख नहीं पाया।

लिलुआ के उस कारखाने के कर्मचारियों के मेस में रहकर अप्रेंटिसशिप

कर रहा था कि अचानक ही उसका भाग्य चमक उठा। डायरेक्टर दास साहब की नज़र में पड़ गया।

अच्छी नज़र से क्या नहीं होता ? सुनन्द प्रशिक्षण के कई वेड़े लांघकर प्रधान सहकारी का पद पा गया। और शुरू में ही साढ़े छह सौ रुपये तनख्वाह पाने लगा। यह खुशी उसके लिए वास्तव में अप्रत्याशित थी।

खुशी से उल्लसित चेहरा लिये सुनन्द लिलुआ से अचानक ही आ पहुंचा। मन्दिरा को वह दिन अच्छी तरह याद है। कई दिनों की लगातार वर्षा के वाद आकाश मेघ-शून्य था। धरती धूप से चमक रही थी। सुनन्द को देखकर मन्दिरा खुशी से उछल पड़ी थी। वोली, "वड़ा हीरे जैसा लड़का है रे तू। तू मान या न मान, दो दिनों से तेरे लिए वड़ा मन उदास हो रहा था। आ, वैठ। धूप में आया है। शर्वत वना लाती हूं।"

पर सुनन्द ने दीदी का कंधा पकड़कर वैठा दिया। प्यार जताने का यही एक तरीका है उसका। छोटे कद की मन्दिरा, सुनन्द ने हमेशा वड़े भाई की भूमिका ही निभायी है। उसी पुराने ढंग से कहा, "रहने दो अपना शर्वत। भली लड़की की भांति वैठ जाओ चुपचाप। वड़ी अच्छी खवर लाया हूं, दीदी।"

"अच्छी खवर ? यानी नौकरी मिल गयी है तुझे ?" फिर अपनी नानी-दादी की ही तरह मन्दिरा ने मन-ही-मन भगवान के प्रति कृतज्ञता जताई। फिर वोली, "अव वोल।"

सुनन्द वोला, "फिलहाल तो शुरू साढ़े छह सौ रुपये से हुआ है, पर जल्दी ही आठ सौ मिल जाएंगे। अगले साल तक हज़ार। इसके अलावा शायद कभी चीफ भी वन जाऊं, यानी अगर कहीं वाहर से क्वालीफाइड होकर आ सका तो। पर भेजेंगे तो वे ही।" फिर टांगें हिलाते हुए वोला, "उसके वाद तो, दीदी, साढ़े तीन हज़ार वेसिक···"

मन्दिरा यह सव क्या सुन रही थी ? कोई कहानी ? सुनन्द यूंही उससे मजाक तो नहीं कर रहा था ! संभव है छोटी-मोटी कोई नौकरी मिल गयी हो और दीदी से मजाक कर रहा हो। पर मन्दिरा वेवकूफ नहीं वनी। वोली, "वस ! इतना ही ? पूरे कारखाने का मालिक नहीं वना

दिया तुझे ?"

"वाह रे, दीदी ! तुम मजाक समझ रही हो, सही कह रहा हूं, मजाक नहीं है, दीदी। सपाट-सच्ची वात है। परसों ज्वायन कर रहा हूं। आज छुट्टी थी, इसलिए तुम्हें खबर करने चला आया।"

मन्दिरा आंसू रोककर, हंसकर वोली, "सच कह रहा है न ?"

"हां, दीदी, सच ! सच ! सच!"

मन्दिरा के मन में आया, मां की तरह पूजा के लिए अलग रुपये उठाकर रखे। परीक्षाफल या कोई भी अच्छी खवर पाकर मां इसी तरह पूजा के पैसे अलग उठा रखती थी।

इस विचार के साथ उसे यह भी लगा कि वह खुद दादी-नानियों के जमाने की वन गयी। इसलिए उस विचार को त्यागकर वोली, "याद रखना तूने तीन बार सच कहा है।"

सुनन्द वोला, "क्यों, दीदी ! सुनन्द सेन क्या इतना ही वुरा है ? तुम्हें विश्वास नहीं हो रहा ?"

मन्दिरा हंस पड़ी। वोली, "सन्देह तुझ पर नहीं रे, भाग्य पर हो रहा है। तू ऐसे समय आया कि इतनी वड़ी खुशखवरी मुझे अकेले ही सुननी पड़ रही है। इन्दु, नन्दा, छन्दा कोई भी घर नहीं। सव के सव झुंड बनाकर सिनेमा गए हैं।"

"ठीक है। खुशी का अकेले में ही उपभोग करो न, दीदी।"

फिर अचानक शर्म से चेहरा लाल कर वोल पड़ा, "खुशखवरी एक और भी है। मैंने शादी कर ली है, दीदी !" फिर मानो सच में ही यह एक खुशखवरी थी, सुनन्द जोरों से हंस पड़ा।

मन्दिरा सिहर उठी। कुछ वोल भी न सकी।

सिर्फ़ पचीस वर्ष का सुनन्द किस भयंकर लोभ के आगे आत्मसमर्पण कर वैठा था—और इसीलिए अव जोरों की हंसी हंसकर अपनी लज्जा ढकने की कोशिश कर रहा था। वोला, "क्यों, दीदी ? तुमने तो विलकुल ही चुप्पी साध ली। विश्वास नहीं हो रहा ? वात सच है। यहां तक कि मुझे भी अभी तक विश्वास नहीं होता।"

मन्दिरा शांत स्पष्ट शब्दों में वोली, "तुमने शादी कर ली है ?"

ज़िन्दगी में पहली वार सुनन्द को मन्दिरा ने 'तू' नहीं, 'तुम' कहा था। सम्बोधन से सुनन्द के कानों को धक्का लगा, पर तुरंत ही उसकी साढ़े छह सौ रुपये की सत्ता सचेतन हो उठी। बोला, "हां, जल्दी में करनी ही पड़ गयी। उसके वावूजी यानी दास साहव को अचानक जापान जाना पड़ा। जाने के पहले ही वे झंझट से निवटना चाहते थे। इसलिए जल्दवाजी में तुम लोगों को खवर नहीं कर सका। हालांकि तुम लोगों के पुराने फैशन के पुरोहित और हज्जाम वाली शादी नहीं हुई। रजिस्ट्री ऑफिस में—पैंतालीस मिनट में शादी खत्म। दास साहव ने कहा था…"

मन्दिरा वीच में ही वोली, "शर्वत नहीं तो, कम से कम थोड़ी चाय तो लेगा न?"

सुनन्द अव यह नहीं कह सका—'पीऊंगा वावा, पीऊंगा। तुम घवराओ नहीं। उन लोगों को आने दो।' यह भी नहीं कह सका—'क्यों इतना खाने-पीने की वात कर रही हो—वहू कैसी है, पूछो भी तो।' और यह भी नहीं कह सका—'न जाने दास साहव ने खामखा क्यों जल्दी मचायी? तीन महीने के वाद जापान से लौट आने के वाद शादी करने से पता नहीं क्या विगड़ जाता?'

सुनन्द सिर्फ़ धीरे से इतना ही कह सका, "चाय? हां, चल सकती है।"

मन्दिरा चाय वनाने के लिए चली गयी।

एक प्याली चाय वनाने में क्या मन्दिरा वुड्ढी वन गयी? सुनन्द को लगा, चाय के नाम पर दीदी अनन्त युग से नीचे वैठी हुई है।

क्या हीटर खराव हो गया था? स्टोव का तेल खत्म था? चूल्हे में आंच नहीं थी?

मन्दिरा के चाय लाने से पहले ही वाकी वहनें शोर मचाती हुई सिनेमा से लौट आयीं।

"भैया आया है? अरे, वाह!" वाहर जूता देखकर ही समझ गयी थीं। "वाप रे, क्या फर्स्ट क्लास जूता खरीदा है भैया ने? खूब फशन वढ़ा है भैया का!"

सीढ़ियों पर से ही शब्दों का तूफान खड़ा कर वे कमरे में आ पहुंचीं। तब तक मन्दिरा चाय ला चुकी थी। सहज स्वर में पूछा, "हाथ-मुंह धोएगा ?··· अरे, तीनों चुड़ैलो ! सुन ! सुन ! दो-दो खुशखबरी सुनने को हैं।" इस बार खुशखबरी मन्दिरा ने ही छोटी बहनों को सुनायी। पर ये चुड़ैलें क्या मन्दिरा की तरह खामोश हो गयीं ? नहीं। क्योंकि मन्दिरा की तरह उनके मन पर इस बात का भारी धक्का नहीं लगा। इसलिए वे लोग दीदी पर ही झपट पड़ीं।

बोलीं, "भैया ने शादी कर ली है और उस खबर को खुशखबरी समझकर तुम मीठी आवाज़ में बता रही हो ? छिः-छिः ! सुनकर शर्म से तो हमारा सिर झुक गया है। यह तूने क्या किया, भैया ? किसी ने क्या तुझे मंत्र पढ़ाकर देवी के सामने बलि के लिए खड़ा कर दिया था ? हमें आभास तक नहीं हुआ और तू शादी कर बैठा ?"

तीनों बहनें एक साथ झपटीं। कोई किसी से कम नहीं थी। एक ने कहा, "अब समझी। होगी कोई नीच, डोम, दुसाध—इसी डर से पहले किसी को बताया नहीं कि कहीं शादी न टूट जाए। इतने कम दिनों में इतने गहरे प्रेम में कैसे डूब गये, भैया ? धत्, प्रेम-वेम कुछ नहीं। मोटी तनख्वाह का लोभ था। है न यही बात, भैया ? सच भैया, इतना लोभी तू कब से बन गया ? देखने में भी जरूर कोई भूतनी होगी, नहीं तो डायरेक्टर साहब को क्या पड़ी थी कि किसी सीखने वाले कर्मचारी को पकड़कर नौकरी में तरक्की देकर दामाद बना लें। हम लोग लिखकर दे सकते हैं दीदी, कि हमारी भाभी का रंग काले पत्थर जैसा होगा, बड़े-बड़े दांत, टेढ़ी आंख, चपटी नाक, है न इसी तरह की ? होगी ही ऐसी—नहीं तो तेरे भाग्य में डायरेक्टर की लड़की कहां ?"

सुनन्द इस मामले को हल्का करना चाहता था। बहनों की आशंका गलत नहीं थी। सच वास्तव में ही कटु था। प्रेम-वेम कुछ नहीं। सचमुच ही जबरदस्ती गले में डाल देने वाली बात थी। चौबीस सौ के ग्रेड और साढ़े छह सौ रुपयों ने उसके मन को मोह लिया था। सिर्फ़ इतना ही नहीं, कम्पनी के पैसों से विलायत, अमेरिका, जापान, जर्मनी आदि देशों में सैर

करने के स्वप्न ने उसकी दृष्टि को धुंधला कर दिया था। बचपन से आखिर उसे मिला भी क्या था कि आज के इस प्रलोभन को वह अनदेखा कर देता? पर इस समय, इस निजी परिवेश में, उसी के आसरे में दिन काटती इन बहनों के सामने वह स्वयं को बड़ा नीच और गिरा हुआ महसूस करने लगा।

पर सुनन्द ने इस ग्लानि की प्रतिक्रिया से न अनुताप किया और न ही इनसे माफी मांगी। उल्टे एकाएक गरम हो उठा। सदा का खुश-मिजाज सुनन्द झल्लाकर बोला, "इतना भी क्या गुस्सा दिखा रही है! दास साहब ठीक ही कहते थे। घर पर खबर करने पर काम आसानी से नहीं हो पाएगा। यह निश्चित जान लो कि तुम्हारा भला कोई नहीं देखना चाहेगा। तुम्हारे घर की जो स्थिति है उसमें तुम्हारी शादी कोई नहीं चाहेगा। तुम सिर्फ़ एक कमाऊ मशीन बनो और बहनों की एक के बाद एक शादी करो, सब यही चाहेंगे।" आवेश में आकर न जाने वह और क्या-क्या बकता। वह नर्वस हो गया था बुरी तरह। उसे अचानक होश आया। दास साहब ने आगे और क्या कहा था, वह नहीं बता सका। दास साहब भी कच्चे खिलाड़ी नहीं थे। एक आदमी को फुसलाने में बड़ी मेहनत लगती है, वह यह जानते थे।

दास साहब ने यह भी तो कहा था कि तीन-तीन बहनों की शादी (दीदी का हिसाब जोड़ा ही नहीं था) के बाद सुनन्द की शादी की उम्र जाती रहेगी। यह भी कहा था कि जीवन में आगे बढ़ने के लिए भावुकता को कम करना पड़ता है। और फिर अभयवाणी भी सुनायी थी—ज्यादा कमाने पर वह घर पर ज्यादा पैसा भेज सकता है।

पर सुनन्द ने होंठ दबा लिये।

मन्दिरा ने बहनों को डांटा, "जो जी में आता है वही बक देती हैं। मजाक की भी कोई सीमा होती है। छोड़ इनकी बातें, सुनन्द। बोल, बहू को कब ला रहा है? एक पार्टी तो देनी ही पड़ेगी। सबको बहू को दिखाना पड़ेगा। शादी में लड़के के घर से भी तो बहू को कुछ मिलना है—कपड़े, गहने..."

बाकी तीनों बहनों ने नाकें सिकोड़ लीं।

नन्दिता तो बोल ही पड़ी, "धन्य हो दीदी, धन्य हो दीदी, फिर से पंडित बुलाकर शादी ही क्यों नहीं करवा देतीं ?"

मन्दिरा हंसी। बोली, "उतना न सही, थोड़ा तो करूंगी ही। सुनन्द की बहू कोई ऐसी-वैसी चीज़ है? एक अच्छी-सी बनारसी साड़ी तो ज़रूर दूंगी।"

सुनकर सुनन्द ने सोचा—लगता है, जितना सोचा था उतनी चोट दीदी को लगी नहीं। यह भी सोचा, कि अब वह घर पर कुछ ज्यादा रुपया भेजा करेगा। बोला, "कुछ भी करो दीदी, पर लाल बनारसी नहीं खरीदना। इन चुड़ैलों का अन्दाज़ बहुत गलत नहीं है। लाल साड़ी पहनने पर लगेगा, भालू सेब खा रहा है।" बहू को दिखाना ही पड़ेगा, यही सोचकर सुनन्द ने ऐसा कहना ठीक समझा।

सुनन्द की बहू के लिए लाल साड़ी खरीदने की मन्दिरा की साध पूरी नहीं हुई। पार्टी के दिन नारंगी रंग की बनारसी साड़ी से उसे सजाया गया था। दास साहब सपत्नीक पार्टी में आए थे, और पाठशाला के बारे में पूछताछ कर रहे थे। पार्टी स्कूल के हॉल में ही की गयी थी।

अभिजित की मां और मौसेरी दीदी भी घुटने का दर्द हथेली से दबाकर दुल्हन देखने आयी थीं। उन्हीं के हाथ अभिजित ने एक सुन्दर हार भेजा था। वह खुद रोगियों से सुलटकर देर से आया। जब वह पहुंचा, तब तक अधिकतर निमंत्रित व्यक्ति जा चुके थे। बस चाचा-चाची, मामा-मामी आदि नज़दीक के ही कुछ लोग बैठे थे। सुनन्द ने चर्चा का मनपसन्द विषय तो उन्हें दे ही दिया था।

अभिजित ने छन्दा से पूछा, "क्यों ? सब खाकर सफाचट कर दिया है ?"

छन्दा ने प्यारभरी आवाज़ में दीदी से कहा, "देख रही हो दीदी, अभि दा कैसे कह रहे हैं ?"

फिर अभिजित के खाने के प्रबंध के लिए मन्दिरा की छोटी बहनों ने दौड़-धूप लगा दी। अभिजित उनका चिर हितैषी था, अपनों से भी बढ़कर। अभिजित के लिए दीदी की भावनाओं को वे लोग बचपन से ही समझते थे।

इस भावना को समझने के लिए किसी खास उम्र की जरूरत नहीं होती; बच्चा भी पकड़ लेता है।

दुल्हन को देखने के बाद 'कमरे में बड़ी गर्मी है' कहकर अभिजित बरामदे में रखी बेंत की कुर्सी पर बैठ गया। थोड़ी देर में मन्दिरा वहां आयी। अभिजित ने व्यंग्य से मन्दिरा से पूछा, "तुम्हारा माया-हिरण खो गया, क्यों?"

"मतलब?" मन्दिरा क्षीण स्वर में पूछ बैठी।

अभिजित बोला, "मतलब कोई खास नहीं। इतने दिनों तक पानी के दर्पण में दुनिया की छाया देख रही थीं न। धूप में वह पानी का दर्पण सूख गया। बात इतनी-सी ही तो है।"

मन्दिरा अभिजित को देखती रही। बोली, "सूख गया, यही क्यों सोच रहे हो? उसे पैसा भी तो बहुत मिलेगा।"

अभिजित बोला, "हां, सो तो शायद मिलेगा। पर क्या बहुत देगा? इतना कि तुम दायित्व से मुक्त हो सको?"

मन्दिरा बरामदे में जमीन पर ही बैठ गयी। अभिजित के मना करने पर बोली, "मामूली साड़ी है। काम-काज के लिए पहनी है।" फिर बोली, "प्रोग्राम थोड़ा और आगे के लिए टल गया। है न?"

"तुम्हारी बात सुनकर क्या लगता है, जानती हो? जीवन अनन्त है, यौवन कभी न समाप्त होने वाली चीज़ है।"

"ऐसा क्यों कहते हो? दो-चार साल में कितना फर्क आएगा?"

"दो-चार साल? दो-चार क्षण में कितना कुछ बदल जाता है।"

"बस, अब और, नहीं। इन्दिरा खाना ला रही है···सुनन्द की बहू को देखा?"

"देखा तो। बहू को देखने ही तो आया था।"

खुले बरामदे को तिरपाल डालकर घेर दिया गया था। उसके झालर की परछाईं मन्दिरा के चेहरे पर पड़ रही थी। मन्दिरा की थकावट उसमें मानो ढक गयी थी। सूती साड़ी पहने हुए भी मन्दिरा आज एक किशोरी दिख रही थी।

मन भी आज उसका हल्का था। बोली, "सिर्फ़ सुनन्द की बहू को ही देखने आए थे!"

अभिजित ने मन्दिरा की ओर देखा। फिर गंभीर होकर बोला, "नहीं तो और किसकी बहू को देखने के लिए आता ?"

"दिन पर दिन क्रोधी होते जा रहे हो ?"

"शिकायत का पलड़ा थोड़ा और भारी हुआ, क्यों ?" अभिजित बोला।

मन्दिरा सहम गयी, "क्या कह रहे हो ?"

"अब तक तो यही सुनता आया हूं, दिन पर दिन गम्भीर होता जा रहा हूं, बुड्ढा होता जा रहा हूं, उदासीन बनता जा रहा हूं, आज सुना—क्रोधी भी बन गया हूं।"

"इसमें से एक भी शिकायत झूठी है ?"

"नहीं। झूठ नहीं कही जा सकती।"

मन्दिरा बोली, "सुनन्द ऐसा कर बैठेगा, किसने सोचा था, कहो? अगर प्रेम-वेम कर शादी करता तो कुछ सहानुभूति भी होती।"

अचानक अभिजित हंस पड़ा। बोला,"उलटा-सीधा क्या बक रही हो। वह तो और भी कठिन निर्णय की बात होती। अच्छा, तुम्हारे भाई के ससुर की उपाधि 'दास' है न ?"

इसी बीच इन्दिरा खाना लेकर आयी। मनाकर अभिजित को खिलाया। मन्दिरा खड़ी हुई। उसके चेहरे की थकावट स्पष्ट हो उठी। थका-हारा चेहरा। छन्दा और इन्दिरा नाराज होकर कह रही थीं, "आज के दिन कैसी गन्दी साड़ी पहन रखी है, दीदी!"

मन्दिरा बोली, "काम-काज में उलझी हुई हूं। सज-धजकर बैठने की फुर्सत कहां ?"

पर मन्दिरा ने यही सोचकर अच्छी साड़ी नहीं पहनी थी कि छोटे भाई की शादी में सज-संवरकर उसका घूमना अच्छा नहीं दिखेगा।

रात को सोते समय बहनों ने फिर टोका, "कुछ भी कहो, दीदी, तुम बिलकुल अच्छी नहीं लग रही थीं। चाची तुमसे कितनी बड़ी है, फिर भी जरी के चौड़े किनारे वाली साड़ी चढ़ा रखी थी। और मिसेज़ दास!

बाप रे !" फिर ही-ही-ही कर सब हंस पड़ीं।

"वैसा ही रंग-ढंग तुम लोगों को पसंद है न ?" मन्दिरा बोली।

"यह कौन कह रहा है ?" नन्दिता बोली, "हर चीज़ की कोई सीमा होती है, दीदी !" फिर मिलकर सब गिनाने लगीं कि कौन-कौन कितना सज-धजकर आयी थी।

मन्दिरा बोली, "ठीक है, अच्छी साड़ी नहीं पहनी। पर इसमें मानहानि की कौन-सी बात हो गयी ?"

"मानहानि की बात नहीं ? नौकरानी की तरह केवल काम-काज की साड़ी पहनकर तुम क्यों घूमा करोगी ?"

उनकी शिकायत सुनकर मन्दिरा बोली, "दूसरों की शादी में सज-कर क्या होगा, बोलो। देखना, अपनी शादी में कितना सजूंगी।"

"हूं ! राधा भी नाची और नौ मन तेल भी जला।"

दीदी के परिहास पर नन्दिता झल्ला उठी। मौका देखकर, बत्ती बुझाकर मन्दिरा सो गयी।

श्रृंगार का सामान अभी बचाकर रखना बाकी ही था, पर मन्दिरा ने सिर-दर्द का बहाना बनाकर बत्ती जलाने ही नहीं दी।

सिर में दर्द नहीं होगा ? दीदी बेचारी सबके लिए कितना करती है ? छन्दा आकर दीदी से सटकर सो गयी। बचपन का अभ्यास अब तक गया नहीं था। दीदी के बिस्तर में उसकी जगह पक्की थी। वह अब भी दीदी को बांहों में लपेटकर पड़ी रहती। छन्दा दीदी के दुबले शरीर पर अपना भारी-सा हाथ रखकर प्यार से बोली, "मेरी शादी के दिन तुम रानी की तरह सजना। समझीं न, दीदी। ओह दीदी, एक ही मिनट में सो गयीं ?"

इन्दिरा धीमी आवाज़ में बोली, "मत पुकार। सोएगी नहीं, कितने दिनों से आराम नहीं। मन पर कम दुःख है दीदी को। हम लोगों का क्या ? पर दीदी की सोच। भैया की आस में समुद्र में नाव खे रही थीं। पर भैया तो आदमी नहीं, जानवर निकला।" अपनी-अपनी साड़ी उठाकर इन्दिरा और नन्दिता उस कमरे से चली गयीं। छन्दा मन्दिरा के पास सोकर आधुनिक फैशन के ब्लाउज़ और साड़ी की बात सोच-सोचकर बड़ी

देर के बाद सो सकी। नींद में मन्दिरा की गहरी सांस की आवाज़ कमरे में प्रतिध्वनित हो रही थी।

दोमंजिले पर सोने के तीन कमरे थे। उनमें सबसे अच्छा कमरा नये दम्पति को सजाकर दिया गया था। वैसे यह रात उनके मिलन की पहली रात नहीं थी। सुहाग-रात लड़की के घर ही मना ली गयी थी, फिर भी बहनों का मन नहीं माना और उन्होंने कमरे को फूलों से सजा दिया था। धूप की खुशबू से वातावरण मोहक हो उठा था।

दुल्हन नापसन्द की थी, विवाह भी आघात-सा था, फिर भी तरुण मन की कल्पनाओं से बहनों के मन में खुशी का झंकार था।

उधर इस आराम के बिस्तर और खुशबू के बीच सुनन्द अस्थिर हो उठा क्योंकि उसने इन सबके विश्वास पर चोट पहुंचायी थी।

कमरा अंधेरा था, फिर भी इस कमरे की एक-एक चीज़ वह देख पा रहा था। इस मकान की एक-एक ईंट से वह परिचित था। उसे मालूम था कि ज़मीन पर एक बड़ी-सी दरार पड़ चुकी है। खिड़की का एक पल्ला टूटा हुआ है। मन्दिरा ने पूरे मकान में सफ़ेदी करवायी थी। पर वह कितना ढक सकती थी। मकान की मलिनता मानो दांत दिखा रही थी। इससे अधिक शक्ति और सामर्थ्य मन्दिरा के पास नहीं था। बिजनबिहारी की गृहस्थी की निर्लज्ज नग्नता पर सफ़ेदी के आवरण को चढ़ाने में मन्दिरा को जी-जान लगाना पड़ा होगा। फिर भी उसने कुछ तो किया ही था। फूलों की महक से भारी हवा की सांस भरते हुए सुनन्द सोच रहा था—किसी लड़की के लिए कितनी अकल्पनीय बात थी। दीदी सिर्फ़ बीस साल की थी। बी०ए० की परीक्षा दे चुकी थी। मन में एम०ए० पढ़ने की साध और प्रेम का रंगीन स्वप्न। पर मां की मृत्यु और पिता की बीमारी ने उसके सारे सपनों पर मानो हथौड़े से चोट कर दी थी।

पर दीदी अगर चाहती तो हथौड़े की चोट से अपने को बचा लेती। छोटे भाई-बहनों को अनायास मामा, चाचा के घर भेज सकती थी। खुद शादी करके चली जाती। कोई शिकायत नहीं करता। कम से कम यहां की समाज-व्यवस्था के अनुसार किसी को शिकायत करते नहीं बनता।

पर दीदी ने ऐसा कुछ नहीं किया। किया सुनन्द ने !

सुनन्द को लगा, हवा बहुत भारी है। सांस लेना मुश्किल है। उसे लगा, जैसे वह इस घर का कोई मेहमान है। कभी इस पलंग पर उसके दादा-दादी सोए होंगे, फिर उसके मां-बाबूजी। पर मन्दिरा ने पालिश करवाकर उसे भी सुनन्द के लिए नया रूप देना चाहा था।

पर इस पालिश के चलते ही सुनन्द को लगा, वह इस घर का अपना कोई नहीं, बल्कि एक अतिथि के समान है। अगर यह पालिश सुनन्द स्वयं करवा सकता, तब उसे भी इस गौरव पर कुछ अधिकार रहता।

यह जीर्ण पलंग, ईंट-काठ का यह जीर्ण आश्रय—सभी सुनन्द की आस में प्रहर गिन रहे थे।

बहुत बार की सोची हुई यही बातें आज भी सुनन्द के मन में भीड़ कर गयीं। बिस्तर से उतरकर अंधेरे में ही उसने सुराही से पानी पिया।

फिर उसी वक्त अब तक की निश्चुप मूर्ति बोल उठी। रूप में कमी थी, पर बोली में नहीं। कल से उसे भी यहां कष्ट का पार नहीं था। अपने घर के बराबर आराम यहां नहीं मिल रहा था। हर कमरे में किराए के पंखे थे, बिस्तर पर नया बेड कवर डाला गया था। नहानघर में आईना और सजावट का सामान भी था। बड़ घर की लड़की को दो दिन के लिए भी कोई कष्ट नहीं पहुंचे, यही सोचकर जितना बन सकता था, सब कुछ किया था इन लोगों ने। पर इस भयंकर गर्मी में काली सुराही के पानी की शीतलता से नयी बहू शीला का मिजाज ठंडा नहीं हो सकता था। और सबसे असहनीय बात तो सुनन्द की इतनी सारी बहनें थीं—बारह, अठारह, बीस और बत्तीस साल की। बाप रे, कल्पना भी नहीं की जा सकती थी कि सुनन्द इन्हीं के बीच बड़ा हुआ था, इन्हीं के साथ खाता-पीता था, हंसी-मजाक करता था। अब पता लगा कि उसका स्वभाव लड़कियों जैसा क्यों था ? शीला तो सुनन्द के रूप पर मोहित हो गयी थी। इसीलिए तो शीला के बाबूजी ने मोटी तनख्वाह पर उसे वर खरीदकर दिया था। पर अब लगता है कि इतना अधीन होना भी ठीक नहीं था। हमेशा तो बाप के घर रह नहीं सकती थी। कभी न कभी तो ससुराल आना ही था। पर यहां, इस वातावरण में ? शीला को यदि पिताजी की ही तरह एक ससुर

मिलता, आराम और पैसे वाले के घर जाती तो वह भी क्या खराब बहू बनती ? हंसी-खुशी से घर को ज़िंदा रखती। पति और ससुर को प्रसन्न रखती। स्वभाव से चंचल, धनी बाप की इकलौती बेटी। अहंकार के बीच रूप की कमी का उसे कभी आभास ही नहीं हुआ। घर पर, रिश्तेदारों से, बाप के कारण ही 'तुम बड़ी अच्छी हो' सुनती आयी थी। बाप के अधीन कर्मचारी भी उसके गुण ही गाते।

शीला में कुछ कमी है—इस बात का आभास उसे इस घर पर ही आकर हुआ। यह उसने ननदों की आंखों में देखा, मेहमानों की बातचीत में सुना।

किसी-किसी ने तो स्पष्ट ही कहा, "बहू सुनन्द के आगे फीकी है। धनी घर की लाड़ली धन में शोभती है, निर्धन के रूप में नहीं। दान-दहेज का सामान अब तक पहुंचा नहीं क्या ?"

नन्दिता बोली, "यहां लाकर क्या होगा ? भैया तो यहां रहेंगे नहीं। अपने क्वार्टर में रहेंगे। सारा सामान वहीं पहुंच जाएगा। यहां अंटेगा भी कहां ?"

किसी ने जात-पात की बात नहीं छेड़ी, यही बहुत था।

किसी ने तो कहा, "अरे ननदो, भाभी के इर्द-गिर्द चक्कर मत काटो, लोगों को खलेगा।"

अर्थात् रूप का फर्क लोगों को खलेगा।

इस फर्क को शीला भी खूब समझती थी। आक्रोश से वह फटी जा रही थी, मानो सारा दोष सुनन्द का ही था। उसी आक्रोश की आवाज़ में शीला बोली, "हमारे यहां फ्रिज के पानी से तो तुम्हें पहले-पहल गले में दर्द हो गया होगा।"

सुनन्द चौंक पड़ा। इस ठेस के लिए वह तैयार नहीं था। बॉस की लड़की की असुविधा और कष्ट की लज्जा से वह कल से शर्म से गड़ा जा रहा था। शीला की सहनशीलता के प्रति मन-ही-मन आभार प्रकट कर रहा था, पर यह क्या ? बिन बादल बिजली !

सुनन्द अचरज के साथ बोला, "क्या कह रही हो ?"

"खास बात नहीं। कल से देख रही हूं न सब कुछ। तुम्हें तो अपनी

बहुत-सी आदतों को बदलना पड़ा है। यह भी एक अजीब तकलीफ है। चाहे वह आदत ऊंचाई की तरफ जाती हो या नीचे की तरफ।"

इस अपमान का कोई तीखा जवाब सुनन्द नहीं दे सका। सिर्फ़ इतना ही बोला, "हम लोग गरीब हैं, यह बात तुम्हारे बाबूजी को मालूम थी।"

"गरीब और पैसे वालों की बात नहीं हो रही है। गरीब रखकर तो उन्होंने तुम्हें दामाद बनाया नहीं था। मैं तो आदत की बात बता रही थी। तुम्हारी दीदी ने अब तक शादी क्यों नहीं की, बता सकते हो?"

"शादी नहीं की, यह बात नहीं। नहीं कर पायी। मां-बाप समय से पहले चल बसे। हम सभी छोटे···"

"पर उसकी बीस साल की उम्र तक तो मां-बाप ज़िन्दा थे? तब भी शादी की उम्र नहीं हुई थी क्या?"

मृत मां-बाप की समालोचना सुनन्द ने नहीं की। यह भी नहीं कहा कि आठ साल की उम्र से दीदी ने मां के जापे का भार संभाला था, दीदी इस घर के लिए अनिवार्य थी—अपरिहार्य अंग बन चुकी थी। इसलिए कर्तव्य को त्यागकर स्वार्थ की बात उन्होंने सोची ही नहीं। इन्हीं के बीच रहकर दीदी ने पढ़ाई की, यह उसकी इच्छा का ही फल था। पर सुनन्द चुप रहा। बोला इतना ही, "शादी करने की बात सोच ही रहे थे, पर अचानक ही···"

"तो फिर विधवा ननद की तरह एक चिरकुमारी मास्टरनी ननद मेरे भाग्य के साथ हमेशा के लिए जुड़ गयी?"

सुनन्द फिर चौंका। बोला, "चिरकुमारी क्यों? शादी क्यों नहीं करेंगी, थोड़ा और घर को जंचा लें।"

बीच ही में शीला ही-ही कर हंस पड़ी। बोली, "करेगी? अब भी यह प्रश्न रह गया है क्या? तुमसे आठ-दस···कितनी बड़ी है?"

सुनन्द सहम गया। सच? यह तो सुनन्द ने सोचा ही नहीं था। दीदी तो सुनन्द से सात-आठ साल बड़ी थी। तो क्या दीदी की शादी हास्यास्पद घटना मानी जाएगी? कुंठित होकर बोला, "दीदी की उम्र की लड़कियों की भी शादी होती है। मैं थोड़ा जम जाऊं, फिर दीदी की शादी करूंगा।"

"दीदी की शादी करोगे ? दीदी की शादी के लिए अब भी ख्वाब देखते हो ? और बाकी की तीन बहनें ?"

असतर्क भाव से सुनन्द बोल गया, "हो ही जाएगा। देखने में सभी सुन्दर हैं।"

शीला मन ही मन जल गयी। बोली, "हां, यही तो एक भरोसा है, नहीं तो तीन हज़ार की नौकरी तुम्हें कहां से मिलती ? अब बाप नहीं है, तब भाई का ही बोझ तो बनेंगी।"

पिता के ऐश्वर्य के परिवेश में शीला कुछ और ही दीखती थी। सुनन्द उन आंखों को कहां छोड़ आया था ? तभी तो बोला, "सो तो है ही। अब तक दीदी ने सारा दायित्व निभाया है, जो मेरे लिए लज्जा की बात थी।"

शीला का मन ज़हरीला हो उठा। नयी-नवेली दुल्हन के सामने यदि पति कर्तव्य का पाठ पढ़ाए, दूसरों के प्रति ममता दिखाए तो क्या नयी ब्याहता कभी खुश होती है ? शीला भी नहीं हुई। बोली, "अब जी-जान से लग पड़ो। दीदी के लिए वर ढूंढो। दायित्य से मुक्त होओ। ताज्जुब है, लोग छोटी बहनों की शादी करवाते हैं, यह तो सुना है, पर मौसी, बुआ और बड़ी दीदी की भी शादी करवाते हैं, यह तो मालूम ही नहीं था।"

शीला इसी तरह की कठोर, पकी-पकी बातें कहती। आधुनिक फैशन के परिवार से होते हुए भी उसने बूढ़ी नानी से इसी तरह की बातें सीखी थीं।

सुनन्द कहने ही जा रहा था—'वर ढूंढ़ने की जरूरत नहीं, वर है। बाधा जात की थी, वह मैंने स्वयं तोड़ डाली है।' पर एकाएक उसकी इच्छा नहीं हुई। चुप रहा।

शीला थोड़ी देर चुप रहकर बोली, "यहां न आना ही मेरे लिए ठीक था।"

सुनन्द नरम हो उठा। बोला, "तुम्हें बहुत कष्ट हो रहा है, शीला ?"

"कष्ट की बात नहीं। पर भगवान ने जिसे जैसा बनाया है, वह वैसी ही तो बनेगी। मैं काली-कुरूप हूं, इसलिए···"

सुनन्द का मन ममता से भीग उठा। बोला, "किसने क्या कहा है ?"

"किसी ने नहीं। पर समझा दिया है। कुरूप नहीं होती तो बाबूजी तुम्हारे इस घर में मेरी शादी करते ही क्यों ?"

सुनन्द धीरे से बोला, "हमारे इस घर में तो तुम्हें भेजा नहीं। तुम्हारे बाबूजी ने तो अपने ही घर में तुम्हें रखा है। सिर्फ़ तुम्हारे हाथ में एक पति लाकर दे दिया है।"

शीला के विराट बंगले में जो सुहागरात मनायी गयी थी, उसमें विह्वलता थी, आवेश था। अपने मकान में दूसरी बार वही उत्सव जब मनाया गया, तब उसने सुनन्द को ज़मीन पर पटक दिया। उसे भी लगा, यहां पड़े रहने में कोई मजा नहीं। सड़े तालाब से निकलकर वह अगर समुद्र में पहुंचने का रास्ता पा जाए तो भावुकता के लिए वह अपनी गति क्यों खोये ? अपने जीवन में वह उन्नति करेगा, कम्पनी के खर्च पर हवाई जहाज़ में जापान-जर्मनी घूमेगा, बड़े-बड़े होटलों में रहेगा। साथ में चटकदार फुर्तीली पत्नी, जिसका हाथ पकड़कर सारी दुनिया को वह दिखा सकेगा कि वह कितना आगे बढ़ गया है। वह क्यों इन अवसरों से मुंह फेरे ? घोषाल स्ट्रीट के घिसी हुई ईंटों के एक पुराने मकान में एक दूभर जीवन बिताने में धरा ही क्या है ? विवेक को पीछे छोड़ो। बहनों को जीवन में कुछ मिले या नहीं, क्या फायदा है इन बातों को सोचने में ?

वे चार हैं। सुनन्द अकेला है।

वे भी तो पढ़ी-लिखी हैं। फिर उनके लिए इतना भी क्या सोचना ? विदेश में भी तो ऐसी कितनी रहती हैं।

शीला उन लोगों को बर्दाश्त नहीं करेगी। वे लोग भी शीला को नहीं सह सकेंगे। वास्तविकता तो यही थी। सुनन्द किसे छोड़े? किसे रखे ?

सुनन्द ने स्वाभिमानिनी रोती हुई पत्नी को बांहों में भर लिया। सुनन्द शीला के ऐश्वर्य पर मोहित था, शीला सुनन्द के रूप पर। इस मोहक परिस्थिति के घेरे में ही वे सफल-सार्थक रह सकते थे। सुनन्द ने अपने को अपराधी अनुभव नहीं किया। दीदी के प्रति उसका कर्तव्य-बोध धूमिल हो उठा। अचानक ही उसे लगा, सच में दीदी की शादी अब क्या होगी ?

इन्दु, छन्दा, नन्दा—इन तीनों की तुरंत शादी कर दी जाय, वही अच्छा। सच ! गरीब के घर पर एक लड़की पैदा करने में लोगों को संकोच कैसे नहीं होता। इस भार को कौन ढोएगा, कोई सोचता तक नहीं।

सुनन्द दीदी के पास आकर खड़ा हुआ। देखा, दीदी अब पहले जैसी दिखती नहीं थी। उम्र की छाप पड़ चुकी थी। बोला, "दीदी, छुट्टी तो बस आज ही तक थी। कल फिर दफ्तर। आज ही जाना पड़ेगा।"

मन्दिरा बोली, "आज ही चला जाएगा ?"

"इसलिए कि···"

"अभी सुबह-सुबह ही चला जाएगा ?"

"बात तो एक ही है, दीदी। सुबह और शाम। कल तुम लोग भी खट-खटाकर थक चुकी हो। हमें विदा कर आज दोपहर को आराम कर लो।"

मन्दिरा बोली, "अच्छा।"

सुनन्द को लगा शीला ठीक ही कहती है—औरत को औरत ही समझती है। मेरे सुख से ये लोग सुखी नहीं। नहीं तो दीदी इतनी उदासीनता से मुझे विदा नहीं करती। दीदी ने कब ऐसा किया है ? जाने के नाम पर पहले तो शोर मचा देती थी।

फिर मुझे जाने में किस बात का संकोच ? बन्धन तो ये स्वयं ढीला कर रहे हैं।

पत्नी को लेकर सुनन्द सवेरे ही चला गया। और उसके जाते ही मन्दिरा ने गजब कर दिया। सो गयी। यह बोलकर सोयी कि भूख लगने पर वे लोग खा लें। उसे नहीं जगाएं। बहनें हैरान हुई। 'भूख नहीं है, नींद आ रही है,' इस तर्क पर दीदी सारा काम अस्त-व्यस्त छोड़कर बेवक्त सो जाएगी, इससे बढ़कर ताज्जुब की बात और क्या हो सकती थी ?

ममतावश दीदी को किसी ने बुलाया भी नहीं। टेंटवाले का आदमी जब सामान वगैरह खोलकर ले गया तो उसके पैसे दे दिए। रसोइए ने जब बर्तन मिलाए तो कलछुल खो गया था, उसके पैसे भर दिए। दीदी देख भी नहीं सकी कि इस खुशी में तीनों बहनों ने मिलकर ढेर सारे बासी

आलूचॉप खा लिये और नयी भाभी की, भैया की, उनके ससुराल की खूब शिकायत भरी चर्चा की। भैया के दिमाग के बारह बज गए थे, इसमें किसी को शक नहीं था।

दीदी के सामने वे यह सब नहीं कर सकती थीं। दीदी ने सोकर मौका दे दिया था।

पर मन्दिरा के सोने का फायदा उसकी एक बहन तो और भी ज्यादा ले रही थी। निश्चितता भी तो एक तरह की नींद ही होती है। अपने भाई-बहनों के सम्बन्ध में मन्दिरा बड़ी निश्चिंत थी। निश्चिंतता पर सबसे पहली चोट सुनन्द ने पहुंचाई। फिर भी मन्दिरा निश्चिंत रही। बहनों के भी पर उग सकते हैं, उसने ध्यान ही नहीं दिया।

चूंकि इन्दिरा बड़ी थी, इसलिए मन्दिरा चाची के भाई के साथ उसकी शादी में पूरा मन लगाए हुए थी। चाची को भी अपने भाई के लिए इन्दिरा पसन्द थी।

पर नन्दिता तब तक अपने पंख फैला चुकी थी। अपने ही कॉलेज के तरुण अध्यापक प्रांतिक चटर्जी के प्रेम में डुबकी लगा रही थी। प्रांतिक जब कहता, "तुम्हारे ऊपर तो तुम्हारी दो-दो दीदियां हैं, फिर उम्मीद ही क्या ?"

नन्दिता बोलती, "इसीलिए तो उम्मीद बंधती है। दीदियों के परिणाम ने मेरे ज्ञान-चक्षुओं को खोल दिया है। उनकी तरह अभिभावकों की सुविवेचना पर मैं नहीं निर्भर करती।"

"हिम्मत है ?"

"अपरिसीम।"

"तो फिर फिलहाल तो आज हिम्मत करके लाइट-हाउस में घुस पड़ो, दो टिकट ला रखे हैं।"

"टिकट लाकर कह रहे हो ? अगर मैं नहीं जाना चाहती तो ?"

प्रांतिक मुसकराकर बोला, "वह मेरे लिए इतने घाटे का होता कि टिकट के पैसे के घाटे का दुख नहीं मानता। 'अगर' नहीं चाहती तब न ?"

"बड़े शैतान हो तुम !"

"अच्छा ? कॉलेज में तो 'आप', 'जी' कहकर बात करती हो···"

"करती हूंगी। पर यह कॉलेज नहीं, कॉलेज-स्ट्रीट है।"

कॉलेज-स्ट्रीट की किताबों की दुकानों वाली सड़क पर अकसर ये लोग घूमा करते थे। प्रांतिक को पुरानी किताबों का नशा था। नन्दिता को भी उस नशे के प्रति रुचि का ढोंग रचना पड़ रहा था, नहीं तो देर से घर लौटने का क्या बहाना बनाती ?

मन्दिरा ने पूछा, "अचानक तुझ पर पुरानी किताबों का नशा कैसे चढ़ गया, नन्दा ?"

"नशे का भी क्या कारण, दीदी ? यों ही अचानक हो जाता है।"

"रोज ही देर से घर लौटती है। समय से खाती भी नहीं। क्यों ?"

नन्दिता बोली, "वाह दीदी ! भूख के समय भूखी रहूं, तुम्हारी तरह ऐसी बेवकूफ मैं नहीं। कहीं किसी रेस्तरां में खा लेती हूं।"

मन्दिरा उसकी बातों पर विश्वास नहीं करती। कहती, "जा-जा, तू और रेस्तरां में बैठकर खाएगी ?"

नन्दिता गंभीर होकर बोलती, "दीदी, आदमी के प्रति तुम्हारी धारणा अब भी कच्ची है। अपनी धारणा बदलो, नहीं तो कष्ट पाओगी।"

मन्दिरा ने नन्दिता की बात गहराई से नहीं ली। हंसी-हंसी में टाल गयी।

पर सिनेमा देखकर लौटने में नन्दिता को इतनी देर हुई कि घड़ी की सुई ने मन्दिरा के मन में भी मानो सुई चुभो दी। पुरानी किताबों की दुकान पर इतनी देर लग सकती है, यह उसका मन नहीं मान रहा था। मन्दिरा घबरायी। दुर्घटना की आशंका से बार-बार सड़क की ओर देखने लगी। बहनों से पूछने लगी कि उन्हें तो कुछ पता नहीं। अन्त में नन्दिता लौटी। जो मन्दिरा कभी नहीं डांटती, आज वह भी धैर्य खो बैठी। अपनी दुश्चिन्ता की बात बताई, फिर डपटकर बोली, "फिर कभी ऐसा नहीं होना चाहिए। दुस्साहस पर भी कोई लगाम होनी चाहिए।"

पर मन्दिरा के अनुशासन की वाणी सुनते ही नन्दिता ने चरम दुस्साहस का नमूना पेश कर दिया। हमेशा से दीदी की आज्ञाकारिणी, दीदी से

मोहित नन्दिना बोल पड़ी, "इसकी कोई गारंटी नहीं दे सकती, दीदी। अपने को नजरबन्द कैदी मानना मेरे लिए कठिन है।"

मन्दिरा चौंक उठी। चुप कर गयी।

दूसरे दिन प्रांतिक ने नन्दिता से पूछा, "कल खूब डांट पड़ी न ?"

नन्दिता अहंकार से तुनककर बोली, "मुझे डांटे, इतनी किसकी हिम्मत ?"

"मतलब, घर में सब से भयंकर तुम ही हो !"

"ऐसी ही दिखती हूं क्या ?"

"अगर झूठ न बोलूं तो ऐसा ही कहना पड़ेगा।"

नन्दिता हंसकर बोली, "फिर सोच लो, भविष्य में तुम्हारे भाग्य में क्या लिखा है।"

बातों ही बातों में प्रांतिक ने पूछा, "एक बात बताओ, तुम्हारी दीदियों ने शादी क्यों नहीं की ?"

"दीदियां कहां ? सिर्फ़ दीदी कहो न। बड़ी दीदी। इन्दु दीदी तो शादी के स्वप्न में विभोर बैठी है।"

"स्वप्न कैसा ?"

"और नहीं तो क्या ? कब लड़केवालों से लेन-देन की बातों का फैसला होगा, कब गहने बनकर आएंगे, कब सेहरा बांधकर दूल्हा आएगा—इन्हीं बातों का स्वप्न।"

"इसके माने, उसकी शादी की बात चल रही है ?"

"चल रही है कछुए की चाल से। लड़केवालों की मांग ज्यादा है, रुपए की चिंता में दीदी पागल बन गयी है।"

"तुम्हारी मंझली दीदी तो बड़ी सुन्दर है न ?"

"तो क्या ? बस, रूप ही है। अक्ल कुछ भी नहीं। जिस रूप के बल पर कम से कम दर्जनों प्रेम कर सकती थी, उस रूप को लेकर घर बैठे लम्बी सांसें गिनती है और अब चांदी के भाव बिकेगी।"

"और क्या करेगी ? तुम्हारी तरह सभी तो अक्लमंद हो नहीं सकते।"

"जो नहीं होगी, उसकी दुर्दशा भी होगी। दीदी ने एक प्रेम किया

नन्दिता बोली, "मेरा सम्मान-बोध अगर कच्चा होता तो तुम्हारे इस सन्देह से ही टूट जाता। पर तुमने तो देखा ही, मैंने बुरा नहीं माना। झगड़ा क्यों करूंगी ? पानी में रहकर मगर से लड़ूंगी ? वह भी मैं ? नहीं, भई ! जिस डाल पर बैठना है, उसे मैं नहीं काटती। अच्छी-सी एक ससुराल में सुख-चैन की ज़िन्दगी काट सकूं, यही मेरी इच्छा है। वनजारों वाला प्रेम मुझे नहीं पसन्द।"

"बहुत व्यावहारिक हो तुम, नन्दिता। मुझे तो कभी-कभी डर-सा लगता है।"

"भरोसे की बात पर डरना मूर्खता है। खैर, तर्क छोड़ो। चलो, तुम्हारे घर चलती हूं।"

"नहीं, सिंहवाहिनी ! दुहाई है तुम्हारी। तुम खुद ही जाओ। अपने ही घर में चोर की तरह नहीं घुस सकता। प्रधान भूमिका तो तुम्हारी ही रहेगी।"

"वह तो रहेगी, पर तुम्हारे बल पर न ?"

"मेरे बल पर मेरे कन्धे पर तो बैठी ही हो, अब मुझे अलग रखने में हानि नहीं।"

"ठीक है, मैं अकेले ही मैनेज कर सकती हूं। पर इससे मेरी महिमा थोड़ी बढ़ेगी। तुम्हारी बिलकुल ही चली जाएगी।"

"जाने दो। पर जाओ तुम अकेली ही। हां, यह वचन देता हूं तुम्हारी दीदी के पास मेरी भूमिका प्रधान रहेगी।"

"ठीक है। पंचांग देखकर दिन तय कर बुलवाऊंगी। फिलहाल घर का पता बताओ।"

पता लेकर नन्दिता चल पड़ी। नन्दिता हमेशा से ही हिम्मत वाली लड़की थी। दीदी के हालात और भैया के कारनामे देखकर ही संभवतः उसने यह नया जीवन-दर्शन अपनाया था।

दरवाज़ा प्रांतिक की भाभी अमला ने खोला। सोचा, शृंगार कम्पनी की कोई कैनवेसर होगी। बोली, "क्या काम है ?"

नन्दिता भांप गयी—हो न हो, यही भाभी है। बोली, "प्रांतिक घर

पर हैं क्या ?"

भाभी की आंखों पर का पर्दा हट गया। क्षणभर में देवर का भूत, भविष्य और वर्तमान सब उसकी आंखों के सामने दृश्यमान हो उठा। गम्भीर रूखेपन से बोली, "नहीं हैं। इस समय रहते भी नहीं।"

"ताज्जुब है। मुझसे तो उन्होंने कहा था कि घर पर रहेंगे। आते ही होंगे। क्यों ?"

अमला निर्लिप्त स्वर में बोली, "अगर कहा है तो आएंगे भी।"

"हमें भी ऐसा ही लगता है। तब तक आपके हाथ की एक प्याली चाय पीने की इच्छा है। पिलाएंगी न ? बहुत इच्छा है चाय की।"

इसके बाद भी अमला का निर्लिप्त रहना शोभा नहीं देता। अमला जाकर सास से बोली, "देवरजी की एक साथिन आयी है। कह रही है, उन्होंने उसे बुलाया है। ऊपर से कहती है, चाय भी पिऊंगी…मुझे तो मामला कुछ गड़बड़ दीख रहा है।"

हाथ का उपन्यास रखकर सास बोली, "गड़बड़ का मतलब ?"

"लगता है कोई खास बात है। जिस तरह झट से 'प्रांतिक' कहकर बुलाया, मुझे तो लगता है, वही लड़की है।"

लाचार होकर प्रांतिक की मां मणिमाला उपन्यास की कल्पित नायक-नायिका को छोड़कर सजीव नायिका को देखने चल पड़ी।

नन्दिता ने उन्हें देखकर पैर छूकर प्रणाम किया। मणिमाला इस आचरण से खुश हुई। और अचानक ही मन-ही-मन अमला के आचरण से तुलना करने लगी। अमला तो तीज-त्योहार के अलावा कभी पैर नहीं छूती। मैके जाते समय भी 'मां, मैं जा रही हूं' इतना ही कहकर ठक से चली जाती है। सास के सामने कुर्सी पर बैठी रहती, पंलग पर लेटी रहती।

इसका आचरण अमला से अच्छा था। सास का मन अमला नहीं जान पायी। चाय बनाते-बनाते सोचने लगी, अच्छा ही हुआ मां खुद गयी। ऐसी तेज लड़की को देखकर अक्ल ठिकाने लग जाएगी।

खाली चाय देना अच्छा नहीं लगा, इसलिए दो बिस्कुट भी साथ लेकर आयी।

पर तब तक मणिमाला नन्दिता की ओर आकर्षित हो चुकी थी। यह भी जान गयी थी, नन्दिता प्रांतिक की छात्रा थी। उसके मां-बाप नहीं। भया विदेश चले गए, केवल दो दीदियां ही नन्दिता का सहारा हैं। यह भी समझ चुकी कि किसी भी मां को देखते ही नन्दिता का मन खुश हो उठता है। खासकर लाल किनारी की साड़ी वाली मां।

असल में मणिमाला में मानो नन्दिता मातृ-मूर्ति की पराकाष्ठा पा गयी थी। ऐसे समय में अमला सिर्फ़ दो बिस्कुट के साथ चाय लायी। मणिमाला ने आंखों से इशारा किया पर अमला ने गौर नहीं किया। अन्त में मणिमाला को कहना ही पड़ा, "मिठाई-विठाई कुछ नहीं है, बहू?"

'नहीं है,' कह पाती तो अच्छा रहता, पर कोई उपाय नहीं था। मिठाई घर पर है, मणिमाला को मालूम था। आज सवेरे ही ससुर का कोई मुवक्किल गांव से छेने की जलेबी लाया था। अमला दूसरे ढंग से बोली, "मिठाई तो है। लाऊं? चाय के साथ कई लोग मिठाई खाते नहीं। इसके अलावा आधुनिक लड़कियां तो मिठाई खाती ही नहीं।"

नन्दिता तन्दुरुस्त लड़की थी। झट बोली, "मुझे देखकर आपको आधुनिक लड़की का भ्रम हो रहा है?"

'खाएंगी मिठाई? लाऊं?" अमला ने पूछा।

नन्दिता बोली, "आपके हिस्से में कम न पड़े तो लाइए।"

मणिमाला बहू पर नाराज हुई और कहीं अमला कंजूसी न करे, इस डर से बोली, "तुम बैठो बहू, मैं ला रही हूं।"

नन्दिता ने आराम से बैठकर छेने की दो बड़ी-बड़ी जलेबियां खायीं। मिठाई उसे बहुत पसन्द है, कहना पड़ा। और "सर अभी तक आए नहीं?" कहकर विदाई ली। यह भी कहा कि 'सर' से उसे एक जरूरी नोट लेना था। चलते समय मणिमाला ने ही बात छेड़ी, "अच्छा बेटी, तुम लोग क्या वैद्य ब्राह्मण हो?"

नन्दिता अकारण ही सिर झुकाकर बोली, "हां।"

मणिमाला न जाने किसे सुनाकर या फिर मन-ही-मन बुदबुदायी, "आज कल वैद्य और ब्राह्मण एक ही हैं। जनेऊ दोनों ही पहनते हैं। क्यों बेटी, तुम लोगों में कोई जनेऊ पहनता है?"

"हम लोग तो नहीं पहनते। भैया पहनते हैं। बाबूजी भी पहनते थे।"

मणिमाला हंस पड़ी। सोचा, अमला की तरह यह हमेशा मुंह फुलाकर नहीं रहती। हंसमुख लड़की है।

'फिर आना'—कहकर मणिमाला ने प्यार जताया।

नन्दिता एक बार और पैर छूकर बोली, 'आना तो पड़ेगा ही। बड़ा जरूरी नोट लेना है।"

निर्दिष्ट जगह पर प्रांतिक प्रतीक्षा कर रहा था। आते ही नन्दिता ने प्रांतिक को जोर से चिकोटी काटी। उसके बाद बैठकर बोली, "बारह आने काम आगे बढ़ाकर आयी हूं। बाकी चार आने का काम दो दिन बाद जाकर सिलटा आऊंगी। भद्र महिला को दो दिन का विश्राम दे रही हूं।"

प्रांतिक ने विनती की, "बताओ न, क्या-क्या हुआ ?"

पर नन्दिता निर्विकार बैठी रही। फिर बोली,"क्या-क्या हुआ, जानने की कोशिश मत करो। क्या होगा, यही सुनो।…'होगी'।"

' इसका माने, आज ही पहुंचकर प्रस्ताव रख सकता हूं ?"

"इतनी कृपा की जरूरत नहीं।"

"मतलब ? शादी का प्रस्ताव भी तुम ही जाकर करोगी क्या ?"

"कोई पागल थोड़े ही हूं।"

"तो फिर कैसे क्या होगा ?"

"प्रस्ताव तुम्हारी मां स्वयं रखेंगी।"

"क्यों, कोई वशीकरण मंत्र छोड़ आयी हो क्या ?"

"कुछ भी कह लो। पर तुम देखना, मां स्वयं कहेंगी—बेटा पानु, लड़की मुझे बहुत भा गई है…"

प्रांतिक बोला, "तुम तो सब कुछ खूब जानती हो…"

नन्दिता की भविष्यवाणी अक्षरशः सच निकली। कुछ दिनों के बाद मणिमाला बोली, "कई दिनों से देख-देखकर उस लड़की से मोह हो गया है। सोच रही हूं, आजकल जात-पांत का लोग उतना विचार करते नहीं। और सच में कोई नीच जात की भी नहीं। इस घर पर उसका भी मन बैठ

गया है। मैं कहती हूं, विचार की बात छोड़ ही देनी चाहिए।"

प्रांतिक गम्भीर होकर बोला, "मैं जब संकोच के साथ कहने आया तब तो तुमने खूब विचार दिखाया और अब उसी लड़की पर लुट गयी हो ? अच्छी बात है।"

"तेरा तो भला ही हुआ। अपनी चाह को ही तो पा रहा है।"

प्रांतिक अपना भाव चढ़ाकर बोला, "दूसरों की दया से मिल रहा है, नहीं तो और कोई बात नहीं।"

"अपनी बात अपने ही पास रख। मैं तो उसी लड़की को बहू बनाकर लाऊंगी। यह मेरा आखिरी फैसला है।"

नन्दिता बोली, "देखो न ?"

प्रांतिक बोला, "वह तो देखा ही।"

"अपनी जगह स्वयं बनानी पड़ती है, यही दुनिया की रीत है।"

"तुम्हारी तरह दो-चार महान नारियां पैदा हों तो दूसरों को भी जगह मिल जाएगी।"

नन्दिता बोली, "अब तुम हमारे घर चलो।"

"जाकर क्या कहना होगा ?" प्रांतिक ने पूछा।

"देखो प्रांतिक, मैं नाराज नहीं होती इसका मतलब यह तो नहीं कि जिन्दगी में कभी नाराज नहीं होऊंगी। जाकर और क्या करोगे ? मेरे गार्जियन के सामने घुटने टेककर मुझे मांग लेना।"

"तुम्हारी गार्जियन तो तुम्हारी ही दीदी हैं न ? सुना है, वजन में तुमसे आधी हैं, और कद में भी तुमसे चार इंच छोटी ?"

"तो क्या ?"

प्रांतिक को नन्दिता खींच ले आयी अपने घर। शाम का वक्त था। प्रांतिक को बाहर खड़ा कर स्वयं अन्दर चली गयी।

मन्दिरा दूसरे दिन के लिए स्कूल की तैयारी कर रही थी। नन्दिता पीछे से मन्दिरा को बांहों में लपेटकर बोली, "दीदी रे, दीदी !"

सुनन्द की शादी के बाद से मन्दिरा थोड़ी बदल गयी थी। गंभीर बन चुकी थी। फिर भी नन्दिता की खुशी में शरीक होकर बोली, "क्यों री ?

क्या बात है ?"

"बहुत खुश हूं दीदी, बड़ी विपत्ति है।"

मन्दिरा संभवतः समझकर बोली, "बहुत खुश है, साथ ही बड़ी विपत्ति भी—यह कौन-सी भाषा है री, नन्दि ?"

"नहीं मालूम, दीदी। बस, बात तो यही है कि लड़के को पकड़कर यहां ले आयी हूं।"

मन्दिरा को तो सब कुछ सहना और संभालना ही था। उसने महान बनने का व्रत जो ले रखा था। इसलिए छोटी बहन के इस बेशर्म वाचालपन को सहकर भी मुसकराना पड़ा। हालांकि तब भी आंखों के आगे अंधेरा छा गया। लगता था, ये दो दिन की देरी भी बर्दाश्त नहीं करेंगे। तो फिर ? कैसे क्या करेगी मन्दिरा ? एक शादी के इन्तज़ाम में ही पागल बनने की स्थिति में पहुंची थी, दो शादियों की तैयारी वह कैसे करेगी ? किस बल पर करेगी ? पर छोटी बहन के आगे दीनता ढककर बोली, "अच्छा ही हुआ, लड़के को ढूंढ़ने की तकलीफ से मैं बच गयी। इन्दिरा की शादी होते ही तेरी कर दूंगी।"

फिलहाल तो इसी सान्त्वना के वाक्य से इन्हें रोका जा सकता था, फिर सुनन्द को कहना पड़ेगा कि या तो रुपयों का प्रबन्ध करे, नहीं तो मकान गिरवी रख दे। इसके सिवा दूसरा चारा भी तो नहीं। पर यह सब तो बाद की बात थी। पर बीच में ही नन्दिता बोल पड़ी, "बाद में क्यों, दीदी ? एक ही साथ कर दो न। दो बार की मेहनत से बच जाओगी।"

"मेरी मेहनत की बात छोड़। एक साथ शादी होने पर कौन किसकी शादी की खुशी मनाएगा ?"

नन्दिता को मामला भरोसे का नहीं लगा। उसने प्रांतिक को इशारा किया कि तुम अपना कर्तव्य ठीक से नहीं निभा रहे हो। आखिर में प्रांतिक शरमाकर संकोच के साथ बोला, "असल में किसी तरह मां-बाबूजी को राजी कर सका हूं। बाद में दूसरों के सिखाने-पढ़ाने पर मर्जी बदल भी सकती है। चटर्जी ब्राह्मणों का अहंकार भी तो है।"

प्रांतिक की बात सुनकर मन्दिरा का मन कोमल हो उठा। बड़ा स्नेह आया उस पर। समझ गयी कि मिलन की व्यग्रता के लिए छल का सहारा

ले रहा है। चिरंतन प्रेमी-प्रेमिकाओं की ही तरह दूसरों को वेवकूफ समझ रहा है।

मन्दिरा हंस पड़ी। बोली, "वे चटर्जी हैं, आप नहीं?"

"उन्हीं की खातिर हूं। पर दीदी, मुझे आप तो नहीं ही कहिए। यह तो कहीं का नियम नहीं है।"

मन्दिरा ने उसके भोले चेहरे को देखा। और भी स्नेह उमड़ा और उस स्नेह के आवेश में वेअन्दाज के दानपत्र पर दस्तखत कर बैठी। दोनों शादियां एक ही साथ कर देने का निश्चय कर लिया।

रात को चोटी गूंथते समय मन्दिरा ने सोचा—शादी तो करते ही वे, करेंगे भी। मुझसे कहा, यही उनका बड़प्पन था नहीं तो मेरी मर्जी की क्या कीमत? सिर्फ़ स्वयं छोटी हो जाती, वेवकूफ बनती, उनके साथ रिश्ते भी ढीले हो जाते। सुनन्द को तो कुछ भी नहीं कहा था। फिर भी वह दूर हट गया था। ताज्जुब है। एक अजीब सूनेपन का दर्द मन्दिरा को अनुभव हुआ। वह कमरे में चहलकदमी करने लगी। मां की अलमारी में लगे शीशे पर नजर पड़ी। शीशे पर कई खरोंचें पड़ चुकी थीं, फिर भी घर पर बड़ा आईना तो बस यही एक था। सभी बहनें इसी के आगे बाल संवारतीं, साड़ी पहनतीं। मन्दिरा भी बाल संवार रही थी। शीशे की तरफ देखकर उसने आज यह अनुभव किया कि यह सूनापन किस बात का है। पर क्यों?

किसी तरुण युवक ने यदि 'दीदी' कहकर पुकारा ही था तो इससे इतने सूनेपन का बोध क्यों हो रहा था? कोई जवाब नहीं था उसके पास, पर यह 'दीदी' का सम्बोधन उसके मन में कहीं बिंध रहा था। पर सुनन्द के दोस्त वगैरह भी तो हमेशा से उसे दीदी ही कहते आए थे। 'दीदी' सम्बोधन से तो मन्दिरा अभ्यस्त हो चुकी थी। अपने लिए कुछ सोचने का वक्त ही कहां था उसे? फिर बत्ती बुझाकर सो गयी। पास में सोयी छन्दा पर हाथ रखने का खयाल ही उसे नहीं रहा। आंखों पर हाथ रखकर सोचने लगी—अभिजित के पास ही जाऊं क्या? जाकर कहूं, तुम्हारे पास तो बहुत पैसे हैं, मुझे कुछ उधार दो न।

बहुत बार बहुत तरह से उसने यह बात सोची, पर जमी नहीं। उसे लगा, कहीं अभिजित के चेहरे पर व्यंग्य तो नहीं झलकेगा ? इधर व्यंग्य की मुसकान ही तो उसके होंठों पर खिलती है।

अभिजित भी अजीब किस्म का नासमझ है।

वह समझता है, मन्दिरा जान-बूझकर उसे वंचित रख रही है। पर वह ऐसा क्यों सोचता है ? मन्दिरा कोई ईंट या पत्थर है। मन्दिरा का सारा हृदय स्वयं क्या प्यास से नहीं सूख रहा—उस घर के किसी कमरे के आश्रय की आस में ? जिस घर को उसने बचपन से न जाने कितनी ही बार देखा था और अब एक बार भी जाकर नहीं देख पाती थी।

अब तो उस घर के मालिक ने बहुत पैसा कमा लिया है। क्या साज-सजावट है ! सारा मकान रंग-रूप में संवरकर मानो गर्वीला बन गया था। उस गर्वीले घर के आगे जाकर मन्दिरा कैसे कह पाएगी—तुम्हारे पास तो बहुत पैसे हैं, कुछ दो न। बड़े कष्ट में हूं।

मन्दिरा की आंखों में आसानी से आंसू नहीं आते। पर इस समय अकारण ही दो बूंद आंसू उसकी आंखों से ढुलक पड़े।

इन्दिरा की शादी की तैयारी करीब-करीब पूरी हो चुकी थी। लड़के-वालों ने फिर बारह साड़ियों की मांग की—देने-वेने के वास्ते और सो भी कीमती।

सन्देशा चाची की मार्फत आया था। 'नहीं दे सकती' कहने का मतलब ही था रिश्ते की बात खत्म कर देना, पर इन बारह साड़ियों का प्रबन्ध भी मन्दिरा कहां से करे ? वैसे तो मन्दिरा साड़ियां खरीद भी लेती, पर शुरू में ही वह एक गलत काम कर बैठी थी। इन्दिरा के दूध के धुले शरीर पर लाल जरी वाली बनारसी कितनी शोभेगी, यह सोचकर वह बजट के ऊपर जाकर तीन सौ रुपये में सुनहरे फूलों वाली लाल बनारसी साड़ी खरीद लायी थी। साड़ी देखकर इन्दिरा झल्ला उठी थी। बोली थी, "मेरे लिए तीन सौ रुपये की साड़ी उठा लायी हो, दीदी ?"

मन्दिरा मधुर हंसी हंसकर बोली, "क्या करूं, बोल ? मुझे लगा यह साड़ी मानो तेरे लिए ही बनायी गयी है।"

"मेरे लिए ?"

"और नहीं तो क्या ? तू इसमें जितनी जंचेगी, संसार में और किसी पर उतनी नहीं शोभेगी रे।"

आज कितने दिनों के बाद मन्दिरा को लगा, उसी एक साड़ी के पैसों से तो बारहों साड़ियां आ सकती थीं। मन में यह बात उठते ही उसका मन धिक्कार से संकुचित हो उठा। छिः-छिः, इतना छोटा मन हो गया है उसका! इतना व्यावसायिक ? मन ही मन न जाने कितनी ही बार उसने यह साड़ी पहनाकर इन्दिरा को देखा था और आज उसे बदलवाने की बात सोच रही थी।

इन्दिरा हमेशा की संकोची-शर्मीली लड़की थी। कभी कुछ नहीं मांगती। उसके लिए तो मन्दिरा को ही सोचना पड़ेगा।

पर इन्दिरा के चरित्र के इस पहलू से तो मन्दिरा अब तक बिलकुल अनजान थी। आज उस पहलू को इन्दिरा ने व्यक्त किया। बोली—"दीदी, उन लोगों की शादी पहले कर दो।"

रात को मन्दिरा को ठीक से नींद नहीं आयी थी। सुबह जल्दी उठ पड़ी थी। देखा, इन्दिरा उस तरफ के बरामदे में खड़ी थी। उसकी शादी हो जाएगी, उसके बाद इस घर में इतने सहज ढंग से और ज्यादा दिनों तक वह रह नहीं पाएगी। इस तरह घूमेगी-फिरेगी नहीं, सोचकर मन्दिरा का मन भीग आया। बोली, "इतनी जल्दी उठ पड़ी, इन्दु ?"

इन्दिरा पास आयी। बोली, "तुमसे एक बात कहनी है दीदी, तुम उनकी शादी पहले कर दो।"

मन्दिरा विमूढ़ होकर बोली, "उनकी शादी पहले कर दूं, मतलब ?"

"क्या हर्ज है, दीदी ? ऐसा तो अब काफी होता है।"

मन्दिरा बोली, "रुपयों की बात सोचकर कह रही है न ?"

इन्दिरा मुसकरायी। बोली, "वह भी कोई साधारण बात नहीं।"

"बस-बस, तुझे इतना सोचने की जरूरत नहीं।" फिर बिलकुल बुजुर्गों की तरह मन्दिरा बोली, "तू चिंता मत कर। उसका भी प्रबंध मैं कर लूंगी।"

"कैसे, दीदी ? अपनी अंतिम मर्यादा बेचकर ?"

मन्दिरा चौंक उठी। बोली, "इसका मतलब ?"

इन्दिरा दूसरी तरफ ताककर बोली, "मतलब खोलकर बताना नहीं चाहती। पर अभिजित 'दा' से मांगकर मेरी शादी मत करो, दीदी।"

मन्दिरा हैरान हुई। इन्दिरा ने विचारों को पढ़ना सीख लिया था क्या? बोली, "उससे मैं पैसे मांगूंगी, यह बात तुझसे किसने कही, इन्दु?"

"और कहां से लोगी, बोलो? सब तरफ से तो खत्म हैं हम। तुम कहती नहीं, इसीलिए क्या मैं समझती नहीं? यही एक आखिरी सम्मान की जगह बची है तुम्हारे लिए। हम लोगों के चलते उसे मत खोओ, दीदी। यह मैं नहीं होने दूंगी।"

मन्दिरा वातावरण की गंभीरता को टालकर बोली, "पैसे वाले पड़ोसी से लोग वक्त-बेवक्त उधार तो लेते ही हैं। यह कोई अनहोनी घटना तो नहीं है, इन्दु।"

इन्दिरा बोली, "तुमने हमेशा से अपने को ढंककर रखा है, दीदी। उस आवरण को खोलने की कोशिश हमने भी नहीं की। पर मेरी आंखों को तुम धोखा नहीं दे सकतीं। आज भी कोशिश छोड़ दो, दीदी…! एक शादी की तैयारी तुमने की है। नन्दु की शादी कर दो।"

"और तेरी?" मन्दिरा ने पूछा।

"न हो तो भी क्या हर्ज है?"

मन्दिरा कभी उत्तेजित नहीं होती थी, पर आज उत्तेजित होकर बोली, "कौन कहता है, हर्ज नहीं है। बहुत हर्ज है। तुझे न सही, मुझे है।"

इन्दिरा अवाक् होकर दीदी को देखती रही। फिर बोली, "ठीक तो है, दीदी। थोड़ा संभाल लो, फिर कर देना मेरी शादी।"

"इतने दिनों तक वे लोग ठहरेंगे?"

"न ठहरें। तुम अपनी इतनी सुन्दर बहन के लिए एक लड़का भी नहीं जुटा पाओगी, दीदी?"

"पर क्या कहूंगी उन लोगों को?"

"कहोगी क्या? कह दो, रोज-रोज नयी मांगों के हम आदी नहीं। बाद में तुम सबको कह सकोगी कि बारह साड़ियों के लालच में उन्होंने सुन्दर दुल्हन को खो दिया। नन्दु को ऐसा नहीं लगना चाहिए कि उसके लिए मेरी…"

इन्दिरा नन्दिता के मन में दुःख न पहुंचाने की वात सोच रही थी, पर नन्दिता तव तो मानो आकाश में सैर कर रही थी। वड़ी आसानी से उसने विश्वास कर लिया कि वारह साड़ियों के चलते ही वह रिश्ता टूट गया है। वोली, "ठीक किया, दीदी, तुमने। सही जवाव दिया है। लड़की क्या हम लोगों की सस्ती है? मुझे तो उसके सामने तुम्हें लाने में भी डर लगता रहता है। देख न, छन्दा ने तो इस वीच किसी भक्त का जुगाड़ कर भी लिया है।"

इन्दिरा वोली, "मजाक छोड़, नन्दु।"

नन्दिता इन्दिरा से गले लिपटकर वोली, "इतनी सीरियस है तू, तभी तुझ पर किसी की नजर नहीं पड़ती। अच्छा, वोल—जीवन को सीरियस वनाने से क्या फायदा, वोल? अगर कोई चाहे तो हलका रहा जा सकता है।"

इन्दिरा अपने को छुड़ाकर वोली, "चाहने पर शायद रहा भी जा सकता है, पर सभी को ऐसी इच्छा नहीं होती, समझी।"

"वावा, तुम्हारी इन गंभीर वातों में मैं नहीं पड़ती।"

सच में ही नन्दिता हल्के मिजाज की थी। इन्दिरा की शादी की तैयारी से ही उसकी शादी हो रही थी, यह वात उसकी समझ में ही नहीं आयी। लड़केवालों के साथ अनवन के कारण रिश्ता टूट गया था, यह सोचकर वह वोली, "मेरी ब्राह्मणी सास की अच्छी तरह खातिर करना, दीदी। वह संतुष्ट रहेगी, तभी मेरी भी चलेगी। तुम जितना करोगी, सास उतनी खुश ही रहेगी।" नन्दिता अपने वाप पर गयी थी। यह सव कहां से और कैसे हो रहा था, इसकी उसे कोई फिक्र नहीं थी। शुतुरमुर्ग की तरह रेत के अंदर मुंह छिपाकर आंधी से वचना चाहती थी। यह भी एक किस्म का अवोधपन था। ऐसे लोग गहराई से कुछ नहीं सोचते। सोचते—हो तो रहा ही है; कैसे हुआ, जानने की जरूरत ही क्या?

इसीलिए इन्दिरा के लिए खरीदी गयी मन्दिरा के साथ की वह साड़ी पहनकर सज-धजकर नन्दिता वोली, "देखा न इन्दु जीजी, इसी को भाग्य कहते हैं। किसका धन कौन भोग रहा है। तेरे सोने जैसे अंग पर कितनी

शोभती यह साड़ी। मैं तो जंच ही नहीं रही हूं।" पर उसे देखकर ऐसा नहीं लगा कि वाकई वह ऐसा सोच रही है। गृहस्थी के अन्दर वह कभी झांकती नहीं थी। बचपन के अभावों और कष्टों की बात वह जानती थी। दीदी के स्कूल खोलने पर वह अभाव दूर हुआ, उसने भी चैन की सांस ली। पर दीदी के स्कूल की सामर्थ्य धूमधाम से शादी करने लायक नहीं, उसकी हिम्मत के बाहर की चीज़ थी, यह उसने कभी नहीं सोचा। इसलिए इन्दिरा के लिए खरीदी साड़ी और उसी के लिए बनवाए गये गहने पहनकर खुशी से डगमगाकर बोली, "इन्दु जीजी के लिए फिर से ऐसा ही सब कुछ बनवाकर रखना दीदी, नहीं तो मेरा विवेक मुझे सताएगा।"

मन्दिरा उसकी चमकती लाल साड़ी को विह्वल नजरों से देखती रही, कुछ बोली नहीं। सोच रही थी—यह रंग मन का रंग है या रक्त का रंग? शादी में लाल साड़ी पहनने की प्रथा क्यों है? लाल साड़ी, लाल सिंदूर, लाल मेंहदी, लाल चूड़ी—ये सब किस बात का प्रतीक हैं?

मन्दिरा नहीं जानती। वह केवल विह्वल नजरों से देख रही थी।

इस शादी में चाचा-चाची नहीं आए। बोले, "बेमेल की शादी, जाने की रूचि नहीं।" पर सुनन्द की शादी में बड़ी रुचि लेकर खा-पी गए थे, यह वे बड़ी जल्दी भूल गए। सुनन्द और सुनन्द की पत्नी भी नहीं आ सके क्योंकि वे कश्मीर घूमने गए थे।

चिरकाल का पड़ोसी अभिजित आया। चाहे काम कितना भी क्यों न हो, उत्सव के दिनों में इस घर के पुरुष अभिभावक की भूमिका वही निभाता था। मन्दिरा से रुपये मांग लेता, फिर खर्चे का पक्का हिसाब भी दे देता। कई बार आता-जाता भी।

सुनन्द की शादी के बाद से मन्दिरा अन्दर ही अन्दर टूट चुकी थी—क्या अभिजित यह भांप गया था और इसीलिए स्नेह और ममता का हाथ उसकी तरफ बढ़ा रहा था।

बस एक अभिभावक का हाथ—इससे अधिक कुछ नहीं।

प्रेम की बात कहने-सुनने के दिन गुज़र गए थे, प्रेम से नजर मिलाने के दिन भी मानो खत्म हो रहे थे। व्यंग्य भरी वह मुसकान भी अब चेहरे पर नहीं रहती। संभावना की शेष उम्मीद भी क्या अभिजित के मन में

इन्दिरा नन्दिता के मन में दुःख न पहुंचाने की बात सोच रही थी, पर नन्दिता तब तो मानो आकाश में सैर कर रही थी। बड़ी आसानी से उसने विश्वास कर लिया कि बारह साड़ियों के चलते ही वह रिश्ता टूट गया है। बोली, "ठीक किया, दीदी, तुमने। सही जवाब दिया है। लड़की क्या हम लोगों की सस्ती है ? मुझे तो उसके सामने तुम्हें लाने में भी डर लगता रहता है। देख न, छन्दा ने तो इस बीच किसी भक्त का जुगाड़ कर भी लिया है।"

इन्दिरा बोली, "मजाक छोड़, नन्दु।"

नन्दिता इन्दिरा से गले लिपटकर बोली, "इतनी सीरियस है तू, तभी तुझ पर किसी की नजर नहीं पड़ती। अच्छा, बोल—जीवन को सीरियस बनाने से क्या फायदा, बोल ? अगर कोई चाहे तो हल्का रहा जा सकता है।"

इन्दिरा अपने को छुड़ाकर बोली, "चाहने पर शायद रहा भी जा सकता है, पर सभी को ऐसी इच्छा नहीं होती, समझी।"

"बाबा, तुम्हारी इन गंभीर बातों में मैं नहीं पड़ती।"

सच में ही नन्दिता हल्के मिजाज की थी। इन्दिरा की शादी की तैयारी से ही उसकी शादी हो रही थी, यह बात उसकी समझ में ही नहीं आयी। लड़केवालों के साथ अनबन के कारण रिश्ता टूट गया था, यह सोचकर वह बोली, "मेरी ब्राह्मणी सास की अच्छी तरह खातिर करना, दीदी। वह संतुष्ट रहेगी, तभी मेरी भी चलेगी। तुम जितना करोगी, सास उतनी खुश ही रहेगी।" नन्दिता अपने बाप पर गयी थी। यह सब कहां से और कैसे हो रहा था, इसकी उसे कोई फिक्र नहीं थी। शुतुरमुर्ग की तरह रेत के अंदर मुंह छिपाकर आंधी से बचना चाहती थी। यह भी एक किस्म का अबोधपन था। ऐसे लोग गहराई से कुछ नहीं सोचते। सोचते—हो तो रहा ही है; कैसे हुआ, जानने की जरूरत ही क्या ?

इसीलिए इन्दिरा के लिए खरीदी गयी मन्दिरा के साथ की वह साड़ी पहनकर सज-धजकर नन्दिता बोली, "देखा न इन्दु जीजी, इसी को भाग्य कहते हैं। किसका धन कौन भोग रहा है। तेरे सोने जैसे अंग पर कितनी

शोभती यह साड़ी। मैं तो जंच ही नहीं रही हूं ।" पर उसे देखकर ऐसा नहीं लगा कि वाकई वह ऐसा सोच रही है । गृहस्थी के अन्दर वह कभी झांकती नहीं थी। वचपन के अभावों और कष्टों की वात वह जानती थी। दीदी के स्कूल खोलने पर वह अभाव दूर हुआ, उसने भी चैन की सांस ली। पर दीदी के स्कूल की सामर्थ्य धूमधाम से शादी करने लायक नहीं, उसकी हिम्मत के वाहर की चीज थी, यह उसने कभी नहीं सोचा। इसलिए इन्दिरा के लिए खरीदी साड़ी और उसी के लिए वनवाए गये गहने पहनकर खुशी से डगमगाकर वोली, "इन्दु जीजी के लिए फिर से ऐसा ही सब कुछ वनवाकर रखना दीदी, नहीं तो मेरा विवेक मुझे सताएगा ।"

मन्दिरा उसकी चमकती लाल साड़ी को विह्वल नजरों से देखती रही, कुछ वोली नहीं। सोच रही थी—यह रंग मन का रंग है या रक्त का रंग? शादी में लाल साड़ी पहनने की प्रथा क्यों है ? लाल साड़ी, लाल सिंदूर, लाल मेंहदी, लाल चूड़ी—ये सब किस वात का प्रतीक हैं ?

मन्दिरा नहीं जानती। वह केवल विह्वल नजरों से देख रही थी।

इस शादी में चाचा-चाची नहीं आए। वोले, "वेमेल की शादी, जाने की रूचि नहीं।" पर सुनन्द की शादी में वड़ी रुचि लेकर खा-पी गए थे, यह वे वड़ी जल्दी भूल गए। सुनन्द और सुनन्द की पत्नी भी नहीं आ सके क्योंकि वे कश्मीर घूमने गए थे।

चिरकाल का पड़ोसी अभिजित आया। चाहे काम कितना भी क्यों न हो, उत्सव के दिनों में इस घर के पुरुष अभिभावक की भूमिका वही निभाता था। मन्दिरा से रुपये मांग लेता, फिर खर्चे का पक्का हिसाव भी दे देता। कई वार आता-जाता भी।

सुनन्द की शादी के वाद से मन्दिरा अन्दर ही अन्दर टूट चुकी थी—क्या अभिजित यह भांप गया था और इसीलिए स्नेह और ममता का हाथ उसकी तरफ वढ़ा रहा था।

वस एक अभिभावक का हाथ—इससे अधिक कुछ नहीं।

प्रेम की वात कहने-सुनने के दिन गुजर गए थे, प्रेम से नजर मिलाने के दिन भी मानो खत्म हो रहे थे। व्यंग्य भरी वह मुसकान भी अव चेहरे पर नहीं रहती। संभावना की शेष उम्मीद भी क्या अभिजित के मन से

जाती रही थी, और इसलिए अपने कंगालपन को छिपाने की साधना में रत था ?

पर क्या अभिजित पुरुष नहीं था ?

क्या वह किसी लड़की की मर्जी का खिलौना मात्र था ? या भाग्य के हाथों मारा गया एक असहाय जीव ? तभी तो अपने जीवन को वर्बादी की तराजू पर चढ़ाकर निश्चिंत बैठा था।

बर्बाद ही तो। इन्दिरा ने भी एक दिन कह ही दिया था, "आप भी तो अपने जीवन को बर्बाद करने के अलावा और कुछ नहीं कर रहे हैं।"

इन्दिरा अभिजित के सामने इतनी कभी नहीं खुली थी। अभिजित को वह श्रद्धा से देखती थी। होश संभालने के साथ ही उसने अभिजित को इस परिवार के हितैषी के रूप में देखा था और आज उसे दीदी की चीज़ के रूप में देख रही थी।

मन्दिरा के साथ अभिजित की शादी हो सकती थी, यह धारणा बचपन में इन्दिरा को नहीं थी। मां कहती भी थी, 'अभि अगर दूसरी जात का नहीं होता तो मैं उसे नहीं छोड़ती। अपना दामाद जरूर बनाती।'

अभिजित की मां भी कहती, "कैसी गुणी लड़की है। अहा ! अगर तेरे पिताजी उसे देते इन्दिरा, तो तेरी दीदी को मैं बहू बनाकर सुख की सांस लेती। पर शूद्र के घर देंगे भी क्या ?"

दोनों के घरों में भी अलग-अलग इस बात की चर्चा होती। या तो इस बात का खयाल ही नहीं करते कि वे क्या सोच रहे हैं या फिर पक्की सांसारिक बुद्धि से जान-बूझकर ही चर्चा छेड़ते ताकि शुरू में ही इन दोनों के मन में अगर कोई कोमल भावना हो तो खत्म हो जाय। वे झूठे स्वप्न न देखें। वे यह जानकर हमेशा सतर्क रहें कि हम एक जात के नहीं, इसलिए हमें प्रेम नहीं करना है।

अभिभावकों ने ऐसा ही सोचा था। बचपन में इन्दिरा इस बात को सुन चुकी थी। पर मालूम नहीं क्यों, इन्दिरा ने मन में बैठा लिया था कि अभिजित नाम का वह उज्ज्वल रत्न दीदी का ही है। इसीलिए अभिजित के प्रति इन्दिरा के मन में बड़े भाई की तरह श्रद्धा थी। अभिजित भी

"वह तो आपकी ही मर्जी है, वरना...आपकी मां हमेशा इस बात का दुख मनाती हैं।"

"यह बात भी सच है। मां की बताई सारी अच्छी लड़कियों को मैंने 'ना' कर दिया।"

इन्दिरा बोल पड़ी, "क्यों किया है? जीवन को इस तरह क्यों बर्बाद करने पर तुले हैं?"

अभिजित ने कहा, "बहुत बातें करना सीख गयी है तू! जीवन बर्बाद करने का मतलब क्या है, यह मुझे समझा तो सही?"

इन्दिरा ने सिर झुका लिया।

अभिजित आगे बोला, "दुनिया में कितने ही लोग बर्बाद होकर चले जाते हैं। इनके बारे में तुम्हें मालूम है, इन्दु!"

इन्दिरा ने अपना चेहरा उठाया। बोली, "मिसाल के तौर पर आप लोगों को तो देख ही रही हूं।"

अभिजित हैरान तो हुआ, पर इन्दिरा के प्रति प्रसन्न भी हुआ। सभी खुशी प्यार नहीं होती, फिर भी किसी तरुणी लड़की के मन का स्पर्श पाना और उसके आगे अपने मन को खोल पाने की कीमत किसी पुरुष के लिए कम नहीं होती। अभिजित बोला, "देख! सोचो तो बर्बाद लगता है पर दूसरे हिसाब से जीवन कभी बर्बाद नहीं जाता। किसी भी तरफ से क्यों न हो, वह सार्थक बन सकता है।"

इन्दिरा के मन में आया, कहे—'हां! जिस तरह 'कमलकली' पाठशाला के माध्यम से दीदी का जीवन सार्थक हो रहा है और आपका जीवन तमाम रोगों की चिकित्सा करके।' पर केवल यही बोली, "हां, यह सोचकर शांति तो अवश्य पायी जा सकती है।"

हां, अभिजित और मन्दिरा के मन में शांति थी, परीक्षा के बाद सैर पर निकलने की परिकल्पना से जो खुशी और शांति होती है, उसी तरह की शांति।

पर सुनन्द ने उस शांति को चूर-चूर कर दिया था। सुनन्द ने मानो अनिर्दिष्ट समय तक के लिए परीक्षा को आगे के लिए सरका दिया था। और उसके बाद नन्दिता ने मानो आंधी ही ला दी थी।

"वह तो आपकी ही मर्जी है, वरना...आपकी मां हमेशा इस बात का दुख मनाती हैं।"

"यह बात भी सच है। मां की बताई सारी अच्छी लड़कियों को मैंने 'ना' कर दिया।"

इन्दिरा बोल पड़ी, "क्यों किया है ? जीवन को इस तरह क्यों बर्बाद करने पर तुले हैं ?"

अभिजित ने कहा, "बहुत बातें करना सीख गयी है तू ! जीवन बर्बाद करने का मतलब क्या है, यह मुझे समझा तो सही ?"

इन्दिरा ने सिर झुका लिया।

अभिजित आगे बोला, "दुनिया में कितने ही लोग बर्बाद होकर चले जाते हैं। इनके बारे में तुम्हें मालूम है, इन्दु !"

इन्दिरा ने अपना चेहरा उठाया। बोली, "मिसाल के तौर पर आप लोगों को तो देख ही रही हूं।"

अभिजित हैरान तो हुआ, पर इन्दिरा के प्रति प्रसन्न भी हुआ। सभी खुशी प्यार नहीं होती, फिर भी किसी तरुणी लड़की के मन का स्पर्श पाना और उसके आगे अपने मन को खोल पाने की कीमत किसी पुरुष के लिए कम नहीं होती। अभिजित बोला, "देख ! सोचो तो बर्बाद लगता है पर दूसरे हिसाब से जीवन कभी बर्बाद नहीं जाता। किसी भी तरफ से क्यों न हो, वह सार्थक बन सकता है।"

इन्दिरा के मन में आया, कहे—'हां ! जिस तरह 'कमलकली' पाठशाला के माध्यम से दीदी का जीवन सार्थक हो रहा है और आपका जीवन तमाम रोगों की चिकित्सा करके।' पर केवल यही बोली, "हां, यह सोचकर शांति तो अवश्य पायी जा सकती है।"

हां, अभिजित और मन्दिरा के मन में शांति थी, परीक्षा के बाद सैर पर निकलने की परिकल्पना से जो खुशी और शांति होती है, उसी तरह की शांति।

पर सुनन्द ने उस शांति को चूर-चूर कर दिया था। सुनन्द ने मानो अनिर्दिष्ट समय तक के लिए परीक्षा को आगे के लिए सरका दि
और उसके बाद नन्दिता ने मानो आंधी ही ला दी थी।

उसे अभिजित से बंधना पड़ेगा, जो अभिजित दुःसह प्रतीक्षा से धीरे-धीरे थक रहा था, घिस रहा था।

पर मन्दिरा क्या अपने दायित्वों से छुटकारा पा सकती थी? मन्दिरा सुनन्द तो नहीं थी। इन्दिरा के घर को बसाने के बाद ही वह अपने लिए कुछ सोच सकेगी, उसके पहले नहीं। मन्दिरा ने सोचा था, इन्दिरा की शादी कर देने के बाद वे दोनों मिलकर बाकी दोनों के लिए सोचेंगे, पर नन्दिता ने उसकी सारी योजना को मिट्टी में मिला दिया था। अब मन्दिरा को फिर से सोचना पड़ेगा।

शादी का घर जब रोशनी से चमक रहा था, मन्दिरा एक अंधेरी जगह ढूंढ़कर थकान की सांस ले रही थी। सोचा—इस घर में एक बार फिर उत्सव की रोशनी जली, पर इसमें मेरा कोई श्रेय नहीं। मैं अपने हाथों से इन्दिरा के लिए जो खुशी मनाना चाह रही थी, नन्दिता और प्रांतिक ने अपनी निर्मम इच्छा के आगे उसे खत्म कर दिया था।

अंधकार को अस्वीकार कर सुनन्द और नन्दिता ने जीवन की रोशनी की तरफ मुंह फेर लिया था। सुनन्द ने जीवन को चाहा था, नन्दिता ने प्रेम को।

पर क्या इन लोगों ने उचित कदम उठाया था? क्या यह रोशनी उनके जीवन को सदा के लिए आलोकित करेगी? जो चमक दूसरों को वंचित करने की कीमत पर मिलती है, कर्तव्य से मुंह फेरकर मिलती है, क्या वह जीवन भर आदमी को सुखी रख सकती है? अगर मैं अन्धकार को अस्वीकार करती, आलोकमुखी फूल बनना चाहती तो क्या मैं सुखी होती?

मन्दिरा ने स्वयं से ही प्रश्न पूछा और फिर बार-बार मन-ही-मन विधाता से ऐसा सोचने के लिए माफी मांगी। बोली, "हे भगवान, वे सुखी रहें, सुख पाएं।"

शादी के घर के एकान्त में अपने को कब तक छिपाया जा सकता है? सारे घर में 'दीदी', 'दीदी' का शोर मच गया था।

अभिजित ने ही मन्दिरा को ढूंढ़ निकाला। बोला, "कन्यादान का रोना अकेले में ही रो रही हो?"

मन्दिरा थकी-सी आवाज़ में बोली, "तुम्हारे साथ मेरा रिश्ता क्या सिर्फ इतना ही है कि मौका देखकर मुझे खरी-खोटी सुनाओ और मैं उदास हो जाऊं ?"

अभिजित मन्दिरा के पास बैठ गया। बोला, "आदान-प्रदान का जब और कोई उपलक्ष्य नहीं, तो कुछ तो चाहिए न ? कभी-कभी लगता है, योगसूत्र छिन्न हो रहा है। चोट खाना और चोट पहुंचाना भी तो एक योगसूत्र ही है।"

मन्दिरा बोली, "मुझे तो नहीं लगता है कि योगसूत्र टूट-सा गया है। हां, बांधने के लिए कोशिश जारी रखनी पड़ेगी।"

"तुम्हारी वसीयत पक्की है ?"

"और तुम्हारी बिलकुल कच्ची न ?" मन्दिरा बोली।

"कभी-कभी ऐसा ही संदेह होता है।"

"तो फिर कच्ची वसीयत रखने की जरूरत ही क्या है ? फाड़ डालो। संजोकर रखने की जरूरत ही क्या ?"

"यही तो बेवकूफी है।"

मन्दिरा ने अभिजित की गोद में अपना एक हाथ रखा। फिर बोली, "कभी-कभी ऐसा लगता है, अभि, कि सारे दिन ऐसे ही बेकार जा रहे हैं। लगता है, तुम्हारे साथ मैंने जो ज्यादती की है, उसकी कोई तुलना नहीं। फिर अपने को संभाल भी लेती हूं। सोचती हूं, अगर अपने कर्तव्य का बोझ लेकर तुम्हारे लिए भी भार बनूं तो उससे हमें अपना सुख कितना मिलेगा। सुनन्द पर बड़ी आशाएं बंधी थीं, पर उसने तो मेरे मुंह पर तमाचे जड़ दिए। उसका बोझ भी तो हमें ही ढोना पड़ेगा।"

"अपने बोझ का थोड़ा-सा हिस्सा हमें भी तो दे सकती थीं ?" दोनों हाथों से मन्दिरा को अपनी तरफ खींचकर अभिजित बोला, "प्रतीक्षा के ये दिन भी कितने बड़े बोझ हैं—कब समझोगी ?"

अभिजित की बांहों में मन्दिरा ने अपने को शिथिल कर दिया। उसके आकर्षण में अपने को समर्पण कर दिया। मन्दिरा भूल गयी कि वह इस कर्म-व्यस्त उत्सव-गृह की गृहिणी थी और इसका हर प्राणी मन्दिरा के निर्देश की अपेक्षा में उसे ढूंढ़ता फिर रहा था। मन्दिरा अपने को खो चुकी

थी। बोली, "फिर भी, अभि, मैं नहीं चाहती कि मैं अपने कर्तव्यों का बोझ लेकर तुम्हारे पास आऊं। मैं तुम्हारे पास 'मैं' होकर ही जाना चाहती हूं। तुम्हारे-हमारे बीच यह बोझ कहीं दीवार न बन जाए।"

अभिजित उठ खड़ा हुआ। खिन्न स्वर में बोला, "तुम्हारी उस 'तुम' की मूर्ति देख पाने के सौभाग्य की आशा में हम दिन गिनते रहेंगे? पर अब चलो। तुम्हारी खोज में हल्ला मच गया है। मैं तुम्हें ढूंढ़ने आया था।"

"मुझे तो सारी जिन्दगी ही ढूंढ़ते रहे।" मन्दिरा उठ पड़ी। पर अभी इस वक्त वह कितना काम संभाल पाएगी? मन्दिरा की सम्पूर्ण चेतना में एक रोमांच भरा मधुर स्पर्श रिमझिम करने लगा था।

ऐसा क्यों? क्या मन्दिरा में अब भी एक कुमारी किशोरी का मन रह गया था?

संसार की लड़ाई से जूझकर थकी-हारी एक यौवना नारी के मन में यह कमजोरी क्या आश्चर्य की बात नहीं थी?

पर दुनिया में न जाने कितनी ही आश्चर्य की बातें होती रहती हैं।

आश्चर्य ही तो दुनिया है।

नहीं तो विदाई के समय नन्दिता इतनी रोयी क्यों? दीदी, इन्दु, छन्दा—नन्दिता सबसे मिल-मिलकर रो रही थी। मन्दिरा के शौक की खरीदी हुई वह लाल साड़ी भी उसके आंसुओं से मानो उदास-सी हो गयी थी।

सबसे मिल-मिलकर वह मानो मिन्नतें कर रही थी—'मुझे याद रखना, मुझे याद रखना।'

शायद मन के किसी कोने में अपराध का बोध उभर आया था और ये आंसू उसी की मुक्ति के रूप में उमड़ आए थे। और नहीं तो इतनी हल्के स्वभाव की लड़की, दुख में रोती, सुख में हंसती, गुस्सा आने पर झगड़ा करती। ऐसे ही लोग सुखी हैं।

इनका सुख कोई नहीं छीन सकता।

दूसरी तरफ किसी भी स्थिति में सुखी नहीं रहते, ऐसे लोग भी होते हैं। नहीं तो सुनन्द की पत्नी शीला के जीवन में दुख कैसा? धनी बाप की इकलौती प्यारी बेटी। शादी के तुरंत बाद पति को समाज-संसार ने

मन्दिरा थकी-सी आवाज़ में बोली, "तुम्हारे साथ मेरा रिश्ता क्या सिर्फ इतना ही है कि मौका देखकर मुझे खरी-खोटी सुनाओ और मैं उदास हो जाऊं ?"

अभिजित मन्दिरा के पास बैठ गया। बोला, "आदान-प्रदान का जब और कोई उपलक्ष्य नहीं, तो कुछ तो चाहिए न ? कभी-कभी लगता है, योगसूत्र छिन्न हो रहा है। चोट खाना और चोट पहुंचाना भी तो एक योगसूत्र ही है।"

मन्दिरा बोली, "मुझे तो नहीं लगता है कि योगसूत्र टूट-सा गया है। हां, बांधने के लिए कोशिश जारी रखनी पड़ेगी।"

"तुम्हारी वसीयत पक्की है ?"

"और तुम्हारी बिलकुल कच्ची न ?" मन्दिरा बोली।

"कभी-कभी ऐसा ही संदेह होता है।"

"तो फिर कच्ची वसीयत रखने की जरूरत ही क्या है ? फाड़ डालो। संजोकर रखने की जरूरत ही क्या ?"

"यही तो बेवकूफी है।"

मन्दिरा ने अभिजित की गोद में अपना एक हाथ रखा। फिर बोली, "कभी-कभी ऐसा लगता है, अभि, कि सारे दिन ऐसे ही बेकार जा रहे हैं। लगता है, तुम्हारे साथ मैंने जो ज्यादती की है, उसकी कोई तुलना नहीं। फिर अपने को संभाल भी लेती हूं। सोचती हूं, अगर अपने कर्तव्य का बोझ लेकर तुम्हारे लिए भी भार बनूं तो उससे हमें अपना सुख कितना मिलेगा। सुनन्द पर बड़ी आशाएं बंधी थीं, पर उसने तो मेरे मुंह पर तमाचे जड़ दिए। उसका बोझ भी तो हमें ही ढोना पड़ेगा।"

"अपने बोझ का थोड़ा-सा हिस्सा हमें भी तो दे सकती थीं ?" दोनों हाथों से मन्दिरा को अपनी तरफ खींचकर अभिजित बोला, "प्रतीक्षा के ये दिन भी कितने बड़े बोझ हैं—कब समझोगी ?"

अभिजित की बांहों में मन्दिरा ने अपने को शिथिल कर दिया। उसके आकर्षण में अपने को समर्पण कर दिया। मन्दिरा भूल गयी कि वह इस कर्म-व्यस्त उत्सव-गृह की गृहिणी थी और इसका हर प्राणी मन्दिरा के निर्देश की अपेक्षा में उसे ढूंढ़ता फिर रहा था। मन्दिरा अपने को खो चुकी

थी। बोली, "फिर भी, अभि, मैं नहीं चाहती कि मैं अपने कर्तव्यों का बोझ लेकर तुम्हारे पास आऊं। मैं तुम्हारे पास 'मैं' होकर ही जाना चाहती हूं। तुम्हारे-हमारे बीच यह बोझ कहीं दीवार न बन जाए।"

अभिजित उठ खड़ा हुआ। खिन्न स्वर में बोला, "तुम्हारी उस 'तुम' की मूर्ति देख पाने के सौभाग्य की आशा में हम दिन गिनते रहेंगे? पर अब चलो। तुम्हारी खोज में हल्ला मच गया है। मैं तुम्हें ढूंढ़ने आया था।"

"मुझे तो सारी जिन्दगी ही ढूंढ़ते रहे।" मन्दिरा उठ पड़ी। पर अभी इस वक्त वह कितना काम संभाल पाएगी? मन्दिरा की सम्पूर्ण चेतना में एक रोमांच भरा मधुर स्पर्श रिमझिम करने लगा था।

ऐसा क्यों? क्या मन्दिरा में अब भी एक कुमारी किशोरी का मन रह गया था?

संसार की लड़ाई से जूझकर थकी-हारी एक यौवना नारी के मन में यह कमजोरी क्या आश्चर्य की बात नहीं थी?

पर दुनिया में न जाने कितनी ही आश्चर्य की बातें होती रहती हैं।

आश्चर्य ही तो दुनिया है।

नहीं तो विदाई के समय नन्दिता इतनी रोयी क्यों? दीदी, इन्दु, छन्दा—नन्दिता सबसे मिल-मिलकर रो रही थी। मन्दिरा के शौक की खरीदी हुई वह लाल साड़ी भी उसके आंसुओं से मानो उदास-सी हो गयी थी।

सबसे मिल-मिलकर वह मानो मिन्नतें कर रही थी—'मुझे याद रखना, मुझे याद रखना।'

शायद मन के किसी कोने में अपराध का बोध उभर आया था और ये आंसू उसी की मुक्ति के रूप में उमड़ आए थे। और नहीं तो इतनी हल्के स्वभाव की लड़की, दुख मे रोती, सुख में हंसती, गुस्सा आने पर झगड़ा करती। ऐसे ही लोग सुखी है।

इनका सुख कोई नहीं छीन सकता।

दूसरी तरफ किसी भी स्थिति में सुखी नहीं रहते, ऐसे लोग भी होते हैं। नहीं तो सुनन्द की पत्नी शीला के जीवन मे दुख कैसा? धनी बाप की इकलौती प्यारी बेटी। शादी के तुरंत बाद पति को समाज-संसार से

विच्छिन्न कर आंचल में वांध रखा था। पति ससुर की कृपा से ऊंचा ओहदा पा चुका था। अभी तक एक बच्चा भी नहीं हुआ था जिसे लेकर शीला परेशान रहती, वह हमेशा अप्रसन्न ही रहती।

शीला को लगता था, बाहर से चाहे उसका पति उसे कितना ही क्यों न मनाकर चले, मन से वह कहीं दूर है —जहां शीला नहीं पहुंच पाती।

पर पत्नी होने के नाते पति को पूरा-पूरा पाना उसका हक था। पति के मन में दूसरों के लिए जगह वह कदापि बर्दाश्त नहीं कर सकती थी। कभी-कभी शीला के कुछ कहने पर सुनन्द बोल पड़ता था, "दीदी को तुम समझ नहीं सकोगी। तुममें वह सामर्थ्य ही नहीं। अपने को वंचित कर जिस तरह दीदी ने कर्तव्य निभाया और किन हालात में गृहस्थी संभाली, कोई सोच भी नहीं सकता।" पर शीला ने दीदी के प्रति पति की इस अन्ध-भक्ति को अब उसके कान भर-भरकर खत्म-सा कर दिया था। सुनन्द ने नये ढंग से सोचना सीखा—दीदी ने जो कुछ भी किया, उसमें कोई खास बहादुरी नहीं थी। यह पुश्तैनी घर था, तभी तो। कुछ न कर पाने के दुःख से मैं मरा जा रहा हूं—यह तो सरासर बेवकूफी है। क्योंकि मकान से ही तो असली कमाई होती है। एक तरह से तो वह मैंने ही दीदी को दिया हैं। अपनी भलमनसाहत से ही मैं उसे याद नहीं दिलाता। घर पर अपना दावा छोड़ने का ही मतलब है कि मैं सहायता कर रहा हूं।

सुनन्द को ऑफिस की तरफ से लोनवाला तसवीर की तरह सुन्दर बंगला मिला था। कम्पनी ने गाड़ी भी दे रखी थी। घोषाल स्ट्रीट के उस मकान में शीला जाकर कभी नहीं रह सकेगी, इसलिए उस पर दावा छोड़ने का खयाल कर सुनन्द मन ही मन स्वयं को सांत्वना दे रहा था। बाद में सुनन्द के मन में यह विचार भी आया कि अपनी इस अप्रत्यक्ष सहायता के बारे में दूसरों को भी अवगत कराना चाहिए, नहीं तो रिश्तेदार यही सोचेंगे कि सुनन्द कर्तव्यहीन है, विवेक खो बैठा है और मन्दिरा महान है। यह भी कोई क्यों कहे ?

यही सोचकर उसने सबसे नज़दीक के रिश्तेदार चाचा-चाची के घर आना-जाना शुरू किया—पत्नी को साथ लेकर। दोस्ती जमी क्योंकि इन्दिरा के साथ भाई का रिश्ता टूटने पर चाची मन्दिरा से बिगड़ी हुई थी ही।

वल्कि चाची के आगे छोटा न वनना पड़े, इस जिद के कारण भी था। भगवान ने मन्दिरा की सुन ली।

पर दुःख सिर्फ़ इतना ही था कि इन्दिरा वहुत दूर चली गयी। दूरी तो सिर्फ़ मीलों से नहीं नापी जा सकती। नहीं तो सुनन्द तो वहुत दूर नहीं था। पर यह वह दूरी थी जो मीलों से नापी नहीं जा सकती थी। वह दूरी इन्दिरा की शादी के समय पहली वार स्पष्ट हुई। मन्दिरा ने लड़के का विवरण, उसके व्यवहार, आचरण आदि की वात लिखकर सुनन्द को वुलाया था।

दीदी का मान रखने सुनन्द आया भी, पर अपनी वुद्धिमती पहरेदार पत्नी को साथ लेकर। क्या पता, दीदी के प्रति स्नेह और सम्मान के वोध में न जाने कितना दे वैठे। आते ही वात-वात में शीला वोल पड़ी थी, "अभी तो आप वता रही थीं कि उनकी तरफ से कोई मांग नहीं। इतने सज्जन व्यक्ति कि उनकी कोई तुलना ही नहीं। फिर रुपयों की जरूरत क्यों आ पड़ी?"

मन्दिरा ने इस वाचाल लड़की को एक वार देखा, फिर सुनन्द से कहा, "वे सज्जन हैं, इसीलिए उनके साथ अभद्र आचरण नहीं किया जा सकता। मांग नहीं है, इसीलिए ज्यादा देना पड़ेगा। जो मांगता है उसे नाप-तोलकर ही दिया जाता है। न मांगने पर ही तो देने को मन करता है।"

शीला वोली, "मन करता है तो दीजिए।"

मन्दिरा को आखिर कहना ही पड़ा, "मुझे सुनन्द से वात करने दो, शीला!"

"ठीक है। करिये।" कहकर शीला उठकर खिड़की के पास जाकर खड़ी हो गयी। शीला का यह अपमान सुनन्द को खला। उसने अपना मन सख्त कर लिया।

मन्दिरा जव वोली, "तुम्हें कुछ रुपयों का प्रवन्ध करना ही पड़ेगा, सुनन्द!" तो सुनन्द ने पत्नी के उतरे हुए चेहरे को याद कर कहा, "रुपए? तनख्वाह सुनने से ही ज्यादा लगता है, रहन-सहन भी तो उसी के अनुसार करना पड़ता है।"

सुनन्द दीदी को क्या उचित है, क्या नहीं, यही सिखा रहा था। पर सुनन्द आज एक हिंसक प्राणी की तरह क्यों दिख रहा था ?

मन्दिरा क्या उसे याद दिलाएगी—इस घर से कितनी आमदनी होती है और उसमें से कितना बचाया जा सकता है, यह तो मुझसे अधिक तुझे ही मालूम है, सुनन्द। स्कूल के आय-व्यय का हिसाब तू ही तो करता था। तेरे हाथ की लिखी वे कॉपियां आज भी रखी हुई हैं। पर मन्दिरा ने पुरानी बातों को नहीं उठाया। सिर्फ़ बोली, "तुझसे उचित-अनुचित मैं सीखना नहीं चाहती। तुझे कुछ रुपया देना पड़ेगा, यही कहना है।"

सुनन्द बोला, "अगर हुक्म करती हो तो अवश्य ही देना पड़ेगा, पर क्यों देना पड़ेगा, यही नहीं समझ सका। अगर यहां स्कूल नहीं बैठाती तो किराए के दो-ढाई सौ रुपए आते, यह तो नहीं भूलना चाहिए।"

दो-ढाई सौ रुपए का यह संकेत चाचा-चाची की देन था। कई महीनों से कान भर रहे थे। अगर इन्दिरा की शादी नहीं होती, अगर वह एक बदचलन के हाथों पड़ती तो ही चाची को शांति मिल सकती थी। पर अब तो सुना है, लड़का विदेश से लौटा हुआ इंजीनियर है, ऊपर से पैसेवाला। अखबार में विज्ञापन देकर इतना अच्छा लड़का मिल सकता है, यह भी कौन जानता था ?

पर वयस्का, सुन्दरी, शिक्षिता, भले घर की—इन चार गुणों के बल पर इन्दिरा तुरंत पसन्द कर ली गयी थी, चाची मन ही मन जल-भुनकर सुनन्द को बिगाड़ने में लग गयीं। सुनन्द बदला। सुनन्द की बातों ने इन्दिरा को भूकम्प की तरह झकझोरकर रख दिया। मानो पैरों तले जमीन नहीं, भयंकर खाई थी।

बहुत देर के बाद मन्दिरा कुछ बोल सकी। बोली, "सिर्फ़ नीचे का तल्ला ही क्यों, पूरे मकान को किराए पर चढ़ा देने से किराया और भी ज्यादा मिल सकता है। पर बाबूजी की लड़कियों को बिना पार किए तो यह सवाल ही नहीं उठता था।"

शीला फिर बोल पड़ी, "बाबूजी की सभी लड़कियों पार हो सकेंगी,

यह उम्मीद कहां ? बीस साल पहले जिसे पार करना उन्हीं का काम था, जब वे ही···" बात शीला कैसे खत्म करेगी, यह न सोच पाकर वह चुप हो गयी।

पर इस अधूरे वाक्य को सुनते ही मन्दिरा आघात से स्तब्ध हो उठी।

मन्दिरा मानो भूल गयी कि सुनन्द किस बात की आलोचना के लिए आया था। उसके कानों में यही गूंजने लगा—बीस साल पहले ही जिसे पार करना चाहिए था...। मन्दिरा दूसरों के आगे संयम खोना नहीं जानती। ऐसी स्थिति में भी टूटी नहीं। बोली, "तेरी बहू बड़ी वाचाल है, सुनन्द। दो मिनट भी शांत होकर नहीं बैठ सकती। रहने दे। रुपए देने का हुक्म अगर तुझे जुल्म लगे तो यह हुक्म भी मैं नहीं दूंगी। तू तो जानता ही है, हिसाब में मैं हमेशा से कच्ची हूं। तभी तो घर का सारा हिसाब तुझे संभालने के लिए देती थी। ठीक है। शादी में आना तुम दोनों। शीला के पिताजी के नाम चिट्ठी भी भेजूंगी।" फिर सारी बातों पर पर्दा गिराकर मन्दिरा चली गयी।

पर यह भी क्या वही मन्दिरा थी—चिर दिन की ममतामयी दीदी ? सुनन्द थोड़ी देर मुंह लाल किए बैठा रहा, फिर पत्नी से कहा, "चलो।"

अपमानित सुनन्द भी हुआ था। पत्नी के सामने उसे भी नीचा देखना पड़ा। शीला के आगे दीदी की जो कोमल स्नेहमयी तसवीर उसने खींच रखी थी, उससे दीदी का स्वभाव कहां मेल खा रहा था ? शीला तो उस पर हंसेगी। सुनन्द अपने पर ही झल्लाया। बेकार ही चाचा की बातों में पड़ा। यह सब कुछ न कहता तो ही ठीक था। पर इस अपमान का बदला तो उसे लेना ही पड़ेगा। पर कैसे ? वह इसी विचार में खोया रहा।

गाड़ी पर बैठकर शीला बोली, "बहन की शादी में न्योता खाने आ रहे हो न ?"

सुनन्द ने जवाब नहीं दिया।

शीला तीखेपन भरे शब्दों में बोली, "वाचाल का सर्टिफिकेट जब मुझे मिल ही चुका है तो वाचाल की ही तरह कह रही हूं कि तुम्हारी मर्जी हो तो चले आना। पर ससुर की लड़कियों के रहते हुए मैं दुबारा उस घर में कदम नहीं रख सकती। पहले से ही कह दिया।"

सुनन्द गंभीर होकर बोला, "जा ही कौन रहा है ?"

नहीं ही आए वे। फिर भी इन्दिरा की शादी में रौनक-रोशनी में कोई कमी नहीं छोड़ी थी मन्दिरा ने। इन्दिरा ने बार-बार कहा, "दीदी, जिसे जो चीज़ नहीं शोभती, न ही करना अच्छा रहता है।"

"दुल्हन बनी है, चुपचाप बैठी रह, इन्दु ! किसे क्या शोभता है और क्या नहीं, यह मैं समझूंगी। वे सम्भ्रान्त हैं, धनी हैं, इतना भी नहीं करूंगी तो लड़के की शादी मनाने में उन्हें भी क्या ख़ुशी होगी, बोल ?"

"सब की खुशी की ज़िम्मेदारी तुम ही उठाओगी, दीदी ?"

"जितना मुझसे बन पड़ेगा। पहली ही नजर में कंगालपन कोई अच्छी बात नहीं। और हमारे खोखलेपन को बाहरवाले तो जानते नहीं।" मन्दिरा रोयी-गायी नहीं थी। जहां जो कुछ था, उसी से तैयारी की थी। नन्दिता द्वारा लूटी हुई साड़ी की तरह ही दुबारा फिर उसी तरह की सुनहरी जरी के फूलों वाली लाल बनारसी साड़ी खरीद लायी थी। शायद उससे भी कीमती। उन्होंने गहने नहीं मांगे थे। कम से कम साड़ी तो अच्छी देनी चाहिए।

साड़ी को इन्दिरा ने बड़ी-बड़ी आंखों से देखा। कुछ नहीं बोली। शायद बोल ही नहीं पायी। मन में यही आया—दीदी इतना स्नेह कहां से जुटाती है ? जो स्वयं केवल सूखी मरुभूमि पर आजीवन चलती आयी, वह किस रस से दूसरों के लिए फूल उगाती है ? पर इस स्नेह-धारा में भी सुनन्द ने रेत छिड़क दिया था। ताज्जुब है।

विवाह के दूसरे दिन विदा होने के पहले दीदी से गले मिलकर इन्दिरा रुंधे स्वर में बोली, "अब तो तुम्हें छुट्टी मिली, दीदी। अब तुम अपने घर जाओ।"

मन्दिरा चौंक उठी थी। कहीं यह कोई व्यंग्य तो नहीं था? पर इन्दिरा की आंखों में परिहास नहीं, आंसू थे। इन्दिरा बोली, "हज़ारों मील दूर मुझे भेज दिया। मुझे कुछ करने का मौका भी नहीं दिया। सोचा था···"

मन्दिरा उसकी पीठ को प्यार से सहलाकर बोली, "क्या सोचा था? तू और तेरा पति—दोनों जने मिलकर दीदी की शादी की तैयारी में

जुट जाओगे ?"

"हां, दीदी। बिलकुल सच। यही सोचा था। जब तक तुम्हारे कन्धे से उतर नहीं रही थी, कुछ भी नहीं कर पा रही थी। अब मैं भी विदा हुई, तुम स्वयं ही अपना भार सम्हालो।" पर इन लोगों ने छन्दा को हिसाब में ही नहीं गिना था। छन्दा की उम्र की बात मानो ये दोनों दीदी भूल गयी थीं। छन्दा बच्चों से भी गयी-गुजरी है, नासमझ है—दोनों दीदियां उसकी उम्र की तरफ न देखकर यही सोच रही थीं।

इन्दिरा बोली, "छन्दा को तुम अपने घर ले जाना, दीदी! शीला-देवी के ससुर का मकान उन्हीं के लिए छोड़ देना।"

'कमलकली पाठशाला' के लिए इन्दिरा ने कुछ नहीं कहा था। मान ही लिया था कि स्कूल उठ जाएगा। पहले तो मालूम ही नहीं था कि दास साहब की सुपुत्री शीलादेवी बिजनविहारी के मकान की दावेदार बनकर पधारेगी। सोचती थी, अभिजित दा का मकान भी तो यहीं है, स्कूल तो दीदी चलाएगी ही।

पर सुनन्द की निर्लज्जता ने उस प्रश्न को स्पष्ट कर दिया था। अभिजित से भी इन्दिरा ने यही कहा था, "मुझे तो हज़ारों मील दूर भगा दिया, अभिजित दा। दीदी को संभालिएगा।"

अभिजित बोला, "कोई उसे देखे, तेरी दीदी क्या इसकी परवाह करती है ? सबको तो वह ही देखेगी, दुनिया में यही तो उसकी एकमात्र भूमिका है।"

"क्या वह दीदी का दोष है ?"

"दोष या गुण की बात नहीं हो रही। जो हो रहा है, मैं तो सिर्फ़ उसी की बात कर रहा हूं।"

"आप लोगों को मैं कह भी क्या सकती हूं! इतना ही कहूंगी---और देर मत कीजिए, अभिजित दा। भैया का व्यवहार देख ही रहे हैं···"

"पर अब इसकी जरूरत ही क्या रह गई है ? तेरी दीदी के लिए तो 'कमलकली' पाठशाला ही काफी है।"

स्कूल रहेगा या नहीं, इसमें भी तो सन्देह है। पर लाल बनारसी साड़ी ओढ़कर वधू वेश में यह कहना उसने ठीक नहीं समझा। बोली, "दीदी के

प्रति आप न्याय नहीं कर रहे हैं।"

अभिजित और मन्दिरा का सम्पर्क और संकल्प इन्दिरा के मन में स्पष्ट था। शायद इसीलिए इन्दिरा इतनी वात कह पायी थी। और शायद शादी की रात थी, इसलिए भी इतना स्पष्टतः मुंह खोल सकी थी।

शादी मानो लड़कियों को खास किस्म की आज़ादी दे देती है। इन्दिरा पूना चली गयी थी। जाते समय वार-वार छन्दा को बोल गयी थी, "वच्चोंवाली आदतें अव छोड़, छन्दा। याद रख, तू अव वड़ी हो गयी है। दीदी को देखना।"

छन्दा ने अपनी मंझली दीदी की वात मान ली थी। पूरी न सही पर थोड़ी-वहुत जरूर। दीदी को देखे या नहीं, पर वड़ी हो गयी है, यह वात उसने दिमाग में रख ली। दीदी को वह देखती भी कैसे ?

दीदी देखने का अवसर दे, तव न ?

मन्दिरा तो तव तक 'कमलकली पाठशाला' को उच्चतर करने की कोशिश में जुट गयी थी। नयी शिक्षिका मिस चौधरी सारे समय यही सलाह देती कि स्कूल के लिए ठाठ-वाट की भी जरूरत होती है, नहीं तो उसका सम्मान नहीं होता।

स्कूल का नाम तो था, पर मिस चौधरी को वच्चों का चटाई पर वैठकर पढ़ना कतई पसन्द नहीं था। उसने कहा, "इस ज़माने में लोग हंसेंगे। छोटी कुर्सियों और टेवुलों का प्रवन्ध करना होगा। फीस अगर थोड़ी वढ़ानी पड़े तो भी।"

अतः डेस्क और कुर्सियों के आर्डर के वारे में सोचना पड़ा।

इसका भार अभिजित के अलावा और किस पर छोड़ा जा सकता था ? जो हमेशा से मन्दिरा की सभी इच्छाओं और काम का भार चुपचाप संभालता रहा है, उस अभिजित के अलावा ?

कुर्सी-टेवुल की वात सुनकर अभिजित अपने सिर के आधे गंज पर हाथ फेरते हुए वोला, "इस फैशन की सचमुच कोई जरूरत है ?"

मन्दिरा संकुचित-सी हो उठी। बोली, "मिस चौधरी तो यही कह रही थी।"

"मिस चौधरी की राय जानने की रुचि मुझे नहीं है। तुम क्या कहती हो, यही सुनना चाहता हूं। तुम्हें लगता है, इसकी जरूरत है?"

मूल प्रश्न को टालकर मन्दिरा बोली, "अच्छा तो लगेगा देखने में।"

"वह तो लगेगा। पर चटाई भी तो कोई खराब चीज नहीं। अच्छाई के भी कई पहलू हो सकते हैं। क्या-क्या करोगी? और इस सबमें तुम्हारे बहुत पैसे लग जाएंगे।"

"फीस थोड़ी और बढ़ा देने की बात सोची है हमने।"

"फीस बढ़ाने पर स्कूल चलेगा?"

मन्दिरा अब जोर देकर बोली, "और अच्छी तरह चलेगा। जिस स्कूल की फीस ज्यादा होती है, उसका सम्मान भी अधिक होता है।"

"यह बात तुमसे किसने कही?"

"चारों तरफ यही तो देख रही हूं। आजकल बच्चों की पढ़ाई में मां-बाप पैसा खरचने में हिचकते नहीं। जितना ज्यादा पैसा लगता है मां-बाप को उतना ही लगता है हम बच्चों के लिए कुछ कर रहे हैं।"

"खैर, जब इतना सब कुछ जान ही गयी हो तो मुझे भला क्या आपत्ति हो सकती है? स्कूल को ऊंचा उठाने में तुम्हें भी तो बड़ा संतोष होता है, खासकर जब तुमने उसे ही अपने जीवन का अवलम्बन मान रखा है।"

मन्दिरा के जीवन का अवलम्बन यही है? यही है? अभिजित ने ऐसा कहा? अचानक गला भर आया मन्दिरा का। आंखों को छिपाने के लिए उसे मुंह दूसरी तरफ कर लेना पड़ा। वह आज अभिजित से और भी कुछ कहना चाहती थी और इसीलिए आयी भी थी पर कहने का मौका नहीं मिला। वह कहने आयी थी—स्कूल की तरक्की कर 'कमलकली' को 'शतदल' में बदल दूंगी और स्कूल के किराए से हर महीने सुनन्द को कुछ रुपए भेज दूंगी। सुनन्द ने मुझे बड़ी चोट पहुंचाई है, बड़ा अपमान किया है उसने मेरा। पर यह सब कह नहीं सकी।

यहां भी उसे चोट खानी पड़ी। शायद अपमानित भी हुई। अभिजित सीधे काम की बात पर आ गया। कितनी कुर्सियां, कितने डेस्क चाहिए,

कब डिलीवरी देनी होगी—सारी बातें नोट कर लीं। मन्दिरा सूखी आवाज़ में बोलती गयी। आंखें उठाकर देखा भी नहीं।

और फिर अचानक ही एक अजीब दृश्य उसकी आंखों के सामने उभर उठा। बहुत साल पहले जब अभिजित और उसके मकान के बीच वह बड़ी-सी बिल्डिंग नहीं बनी थी, वहां एक मैदान था, उस मैदान से होकर लोगों ने एक छोटा-सा संकरा रास्ता बना लिया था। उनके चलने से मैदान के बीचोंबीच एक पगडंडी बन गयी थी।

एक बार बरसात के दिनों में मन्दिरा कुछ दिनों के लिए मामा के घर चली गयी थी। जब लौटकर आयी तो देखा—उस पगडंडी का कहीं नामो-निशान तक नहीं था। बरसात के पानी से उस पगडंडी पर नयी घास उग आयी थी। न जाने क्यों आज वह दृश्य आंखों के सामने जाग उठा—मन्दिरा समझ नहीं पायी।

घर लौटकर मन्दिरा आज अकारण ही एक और काम कर बैठी। घर लौटते ही वह दर्पण के सामने खड़ी हो गयी। जो परिवर्तन रोज़ ही आंखों में नहीं पकड़ में आता था, वह दिखाई दिया। उसे लगा—बाल पतले हो आए थे, चेहरे की चिकनाहट खत्म होने पर थी। बालों के बीच रुपहले तार चमक रहे थे। क्या अब भी मन्दिरा अभिजित के स्वाभिमान को अविचार समझकर दूर रखेगी? स्कूल के बहीखातों और फर्नीचर के हिसाब को दूर हटाकर आज मन्दिरा अपने और अभिजित के जीवन का हिसाब लगाने बैठी। सही हिसाब।

—अभिजित ही ठगा गया था। आजीवन ठगा जाता रहा था। आंखें मूंदकर इस बात को अस्वीकार करूं, कोई फायदा नहीं। मन्दिरा अपने कर्तव्य के बोझ और साधना की सफलता को लेकर आगे बढ़ चली थी, अपने स्नेही जनों के प्यार, दुलार, ममता और निष्ठुरता की विचित्रता के बीच। पर अभिजित के पास क्या था? अभिजित के हिसाब के खाते में था सिर्फ़ सूनापन। उसके हिस्से में सिर्फ़ एक रोगी विधवा मां और काम का बोझ—और कुछ भी नहीं।

अभिजित की आंखों के आगे कोई रंग नहीं था, कोई वैचित्र्य नहीं

था। दिन-महीने-साल गुजर जाते —अभिजित ने अपने घर सिर्फ़ मलमल और पाजामा-बनियान के अलावा और कुछ सूझते नहीं देखा था। मन्दिरा संसार का रंग पहचानती थी, उसका स्वाद भी। अभिजित का जीवन रंगहीन और बेस्वाद था।

मन्दिरा की तरफ सिर्फ़ देखकर ही अभिजित यौवन से प्रौढ़ता की तरफ ढल रहा था।

फिर भी अभिजित ने कभी कोई दावा नहीं किया। शिकायत नहीं की।

पर अगर दावा करता तो शायद अच्छा होता। अगर अभिजित जबरदस्ती मन्दिरा को इस कभी न ख़त्म होने वाले कर्तव्यों के जाल से छीनकर ले जाता तो संभवत: मन्दिरा का जीवन सरल होता।

पर अभिजित भद्र था। शांत था। मन्दिरा बहुत देर तक बैठी रही चुपचाप। फिर सोचने लगी— वह मुंह से कुछ नहीं कह सकेगी, लिखकर बताएगी। सोचकर देखा, बर्बादी की मात्रा कुछ ज्यादा ही हो गयी है। और उसे बढ़ते रहने देना चरम बेवकूफी होगी। 'कमलकली' को जीवन का अवलम्बन समझकर पड़ी रहूंगी, यह मेरी कामना कभी नहीं रही थी। आज भी नहीं है। अपनी 'कमलकली' को अब तुम···

अचानक सोचने में बाधा पड़ी।

छन्दा हांफती-दौड़ती आकर बोली, "दीदी ! दीदी ! जल्दी उस घर में चलो। अभिजित दा की मां शायद फिनिश हो गयी, उनकी नौकरानी बुलाने आयी है। अभिजित दा अभी-अभी घर के बाहर गए हैं।"

फिनिश ? छन्दा की बातचीत का ढंग ऐसा ही था।

नन्दिता से एक डिग्री बढ़कर ही थी वह। हर गम्भीर चीज़ का हलकेपन से बखान करती। तभी तो मृत्यु को कहती है फिनिश। मन्दिरा ने अपने भाग्य के देवता को एक बार फिर विस्मयभरी नज़रों से देखा।

सोचा—आज ही सोचा था, उसे कहूंगी।

अभिजित के घर पहुंचकर यहां-वहां फोन करके मन्दिरा ने अभिजित को बुलवाया। तब तक अभिजित की मां अंतिम सांसें गिन चुकी थी।

अभिजित ने मां के निश्चल शरीर को एक बार देखा। फिर मन्दिरा की तरफ देखकर बोला, "मुझे छुट्टी मिल गयी, क्यों?"

इस मुहूर्त में मन्दिरा क्या कहती? 'छुट्टी' कैसे मिल गयी? और कोई कर्तव्य नहीं तुम्हारा? तुम्हारा कहीं और कोई भी नहीं? या फिर यही कह सकेगी? थोड़ी देर पहले ही मैंने संकल्प किया था, अभि! मैं कहने आयी थी, अब तुम मुझे अपने साथ ले लो। पर समय ऐसा था कि कुछ भी नहीं कहा जा सकता था। एक अजीब-सी चुप्पी छायी हुई थी चारों तरफ।

चुप्पी की इस नीरवता को काफी लम्बे समय तक किसी ने नहीं तोड़ा। फिर मां के श्राद्ध के दूसरे ही दिन आकर अभिजित बोला, "कुछ दिनों के लिए बाहर घूम आता हूं।"

'बाहर? कहां? कितनी दूर? बंगाल से बाहर या भारत के बाहर?" मन्दिरा ने आंखों से ही ये बातें पूछीं।

अभिजित बोला, "भारत के बाहर ही जा रहा हूं। हृदय-रोग का विशेषज्ञ बनने के लिए एक विशेष कोर्स करने जा रहा हूं। अब तक मां के लिए ही अटका हुआ था। कई बार अवसर को हाथ से जाने दिया था। अब क्यों और किसके लिए यहां पड़ा रहूंगा? भारत में रहूं या भारत के बाहर, क्या फरक पड़ता है?"

मन्दिरा दुख और विस्मय से बोल नहीं सकी—फरक नहीं? देश में और बाहर रहने में तुम्हारे लिए कोई फरक नहीं? मन्दिरा स्तब्ध बैठी रही।

यात्रा के पहले अभिजित ने मन्दिरा को कई सावधानी की बातें बतायीं, कुछ निर्देश दिए, तब भी वह यह नहीं बोल सकी—रहने दो। तुम्हें इतना सोचने की क्या जरूरत?

कैसे कहती? उसका कंठ सूख चुका था। आंखें दुश्मनी पर उतर आयी थीं।

इधर मन्दिरा को यही एक रोग हुआ था। अभिजित के परिहास और कौतुकप्रिय स्वभाव के खोने के साथ मन्दिरा की भी अंदर की ताकत जाती

रही थी।

जाने के पहले दिन अभिजित ने मन्दिरा के लिए डेस्क और कुर्सियां मंगवाकर दीं। हिसाब भी दिया, फिर हंसकर बोला, "अच्छा, गुड-बाई।"

"आज ही गुडबाई कह रहे हो? कल भेंट नहीं होगी?"

"भेंट?" फिर निर्निमेष मन्दिरा को देखकर अभिजित बोला, "भेंट तो होगी···।" शायद कहना चाहता था—भेंट होगी पर बहुतों के बीच, बहुतों के सामने।

पर एकांत की इस भेंट का भी किसने सामान्यतम लाभ ही उठाया? दोनों में से किसी ने नहीं। लाभ दूसरों ने उठाया।

छन्दा ने अभि दा को अच्छी-सी एक घड़ी का आर्डर दे दिया।

नन्दिता ससुराल से आकर एक चक्कर लगा गयी। बोली, "उफ! अभिजित दा, आप कैसे हैं? देश छोड़कर भाग रहे हैं। छोटी बहन से एक बार मिलने तक नहीं आए।" उसके बाद पति के साथ मोहल्ले भर की दुकानें छान मारीं। संगी-साथियों के घर झांक आयी। उसके पति ने जब कहा—'तुम्हारी दीदी और अभि दा के बीच वह सब कुछ तो नहीं दिखाई दे रहा है। अभि दा तो अपना सिर गंजा करके दूसरों के दिलों का विशेषज्ञ बनने जा रहे हैं और तुम्हारी दी स्कूल को उन्नत बनाने की सुध में खोयी है!' तो नन्दिता ने एक लम्बी सांस ली। बोली, 'बेचारी भली दीदी। शादी करने का अवसर ही नहीं मिला उसे और अब थोड़े ही कोई शादी-वादी करता है, शादी करने का अर्थ ही क्या रह जाएगा?'

सच! मन्दिरा की शादी का अर्थ ही लोग नहीं लगा पाते। सोचते भी नहीं। सिर्फ़ कहते—बेचारी! कहते—ऐसा रूप, गुण, विद्या, बुद्धि लेकर भी मां-बाप के संसार में जल-भुनकर···

अभिजित चला गया था। कोर्स लम्बा नहीं था। कोई डेढ़-एक साल का था। पर मन्दिरा को लगा, उसकी आंखों के आगे असीम शून्यता छा गयी है।

'चिट्ठी देना'—दोनों में से किसी ने नहीं कहा था। फिर भी 'चिट्ठी आएगी,' यह निश्चित था।

पर नहीं आयी। जिस चिट्ठी की उम्मीद मन्दिरा को थी, वैसी नहीं। चिट्ठी आयी मामूली ढंग की। पहुंचने की खबर लिये हुए। क्या मन्दिरा इसका जवाब देगी ?

ऐसी चिट्ठी जिसमें रहेगा उसके सूनेपन का आभास, व्याकुल वेदना का आत्मसमर्पण। जिस चिट्ठी में मन्दिरा लिख पाएगी—'अभि, अब मुझसे नहीं रहा जाता। अपना भार ढोना इतना भारी हो रहा है कि इसे हर पल अनुभव कर रही हूं।' पर मन्दिरा ऐसा कुछ भी न लिख सकी। यहां से फालतू खबरों से भरी चिट्ठी ही गयी।

मिस चौधरी ने एक दिन शिकायत की, "बच्चों को आप बहुत डांटती हैं, मिस सेन ! आजकल के ज़माने में चिड़चिड़ी शिक्षिका अच्छी नहीं। बाहर के देशों में जाकर देखिए, वहां के शिक्षक भी मानो बच्चे हीं हैं। हंसी-खेल में बच्चों को बहलाकर रखती हैं।"

मिस चौधरी स्वयं कभी बाहर नहीं गयी, फिर भी बात-बात में बाहर के देशों की चर्चा अवश्य करती थी। यह सब सुनकर मन्दिरा और भी म्लान हो जाती, गंभीर हो जाती, और भी चिड़चिड़ी हो जाती।

छन्दा अपने स्वभाव के अनुकूल उछलती-कूदती। दीदी का गला पकड़-कर लटक जाती। पर अब मन्दिरा खुलकर हंस नहीं पाती। मन्दिरा सोचती—इस उम्र में उसका अपना आचरण था। मन्दिरा उन लोगों की दीदी थी, यह बात मानो वह भूलती जा रही थी। उसके साथ अपने को तोलने लगी थी।

चारों तरफ से जीवन जब सूख रहा था, उसी समय आयी करुणा की वह अथाह धारा। दीर्घ प्रतीक्षित वह चिट्ठी। जिस चिट्ठी ने रेतीली नदी में बाढ़ ला दी। यह चिट्ठी हिसाब में कच्ची मन्दिरा के हिसाब के बाहर की चीज़ थी।

अभिजित ने लिखा था—"मन्दिरा ! विदेश में आकर मानो मैं अपने को स्पष्टतः देख सका हूं। मैंने देखा, मेरी ही बुद्धिहीनता ने बड़े लम्बे समय से तुम्हें सब कुछ से वंचित कर रखा है। अगर मैं तुम्हें लूटकर ले आता तो तुम्हारे कर्तव्य-बुद्धि के दानव की क्या हिम्मत थी कि तुम्हारे कन्धे पर फिर भी सवार रहता। पर नियति की तरफ देखकर प्रतीक्षा में पड़ा रहा और अपनी गंजी खोपड़ी पर हाथ फेरता रहा।

"यहां आकर देख रहा हूं कि गंजापन कोई विशेष बात नहीं। देख रहा हूं, पुरुष की सैंतालीस की उम्र भी यहां माने रखती है।···और लड़कियां ? चालीस के बाद, कितनी उमर है तुम्हारी ? इकतालीस ? बयालीस ?···कुछ भी हो। इस देश की दृष्टि से देख रहा हूं कि अब भी तुम सही माने में युवती ही हो। दिन ढल गए, सोचकर राम नाम की माला फेरने की कुबुद्धि हमारे देश के ही बड़े-बुजुर्गों में होती है। आओ मन्दिरा, हम दोनों मिलकर उस हवा की गति को बदल डालें। हम जीवन को जानें-पहचानें। मेरा कोर्स सोलह महीने का है, यानी दस महीने और बाकी रह गए हैं। इन दस महीने तुम तिल-तिल करके तिलोत्तमा बन जाओ। तुम्हारा एक फोटो मेरे पास था। तुम्हारे कनवोकेशन का फोटो, याद है न ? तुम्हारी मां के कहने पर मैं ही तुम्हें ले गया था फोटो खिंचवाने। उसी की एक कॉपी मैंने चुराकर रख ली थी। यहां उसे साथ लेता आया था। बीच-बीच में देखता भी रहता हूं। मुझे तो नहीं लगता कि अब तुम उससे कुछ भिन्न बन गयी हो। गृहिणीपन का जो मुखौटा तुमने चढ़ा रखा है, वह सरकता जा रहा है। मैं तुम्हें वैसी ही देख पा रहा हूं। और मैं भी तो वही हूं ! हूं कि नहीं ? कभी-कभी मनुष्य धूल के आवरण में ढंक-सा जाता है। बाहर के जंजाल में फंसकर अपने को देख नहीं पाता। उस आवरण को हटाकर अपने को देखना बहुत जरूरी है। शायद दूर चला आया हूं, इसलिए इन आंखों से देख पा रहा हूं। पर मन्दिरा, तुम भी तो बहुत दूर बैठी हो। अपने को नहीं देख पा रही हो ? तुम्हारा उस 'कमलकली' की उन्नति ही जीवन का लक्ष्य लग रहा है। क्या तुम्हें सचमुच लगता है कि हमारे दिन [illegible] गए हैं ?"

यह चिट्ठी थी या कोई बरसात की बाढ़ ?
इस बाढ़ को मन्दिरा कैसे बांधेगी ?
इस चिट्ठी का जवाब वह किस भाषा में देगी ?

"दीदी !" छन्दा कूदती-फांदती आयी। बोली, "अभिदा की चिट्ठी आयी है न ?"

"आयी तो है।"

"देखूं ?"

मन्दिरा बोली, "देखेगी, क्यों ?"

पर इसके पहले तो कितनी ही बार मन्दिरा ने छन्दा को चिट्ठी पढ़ायी थी। कहती, "देख छन्दा, अभि ने कितनी जगहों की सैर की है। कितना अच्छा वर्णन है।"

दीदी को तरफ ताककर छन्दा थोड़ा सहमी। बोली, "कोई खराब खबर है ?"

"खराब खबर क्यों ? अच्छी ही है।"

"मेरी घड़ी की बात कुछ लिखी नहीं ?"

मन्दिरा हंस पड़ी। बोली, "तेरी घड़ी के लिए उन्हें नींद नहीं आती होगी। क्या सोच रखा है तूने ?"

चिट्ठी की बात दबा गयी।

छन्दा अब बच्ची नहीं रह गयी थी। भांप गयी। मन ही मन बुदबुदायी—हूं। खूब समझती हूं। जरूर प्रेम-पत्र है। बूढ़े सज्जन के मन में अब प्यार जाग उठा है। अहा, बेचारा ! पके सेब को आराम से खाऊंगा, सोचकर सड़ा डाला। अब चिट्ठी में मन की साध मिटाए···
पर बचपना दिखाकर बोली, "वाह ! मैं ऐसा थोड़े ही कह रही हूं। दुकानों में देखने में भी तो समय लगता है।"

"अभी तो दस महीने हैं।"

बाप रे, दिन भी गिन रखे हैं ! ताज्जुब है।

प्रेम इतना गहरा, फिर भी संयम की नामावली ओढ़कर इन बेवकूफों ने जिन्दगी बर्बाद कर डाली। छन्दा ने चिट्ठी की बात फिर नहीं

उठायी। पर लाइब्रेरी जाने का नाम लेकर घर से निकल पड़ी। आजकल नया दोस्त जो जुटा था।

सारे दिन, सारी रात मन्दिरा सोचती रही। दूसरे दिन जवाब दिया।

एक पंक्ति का जवाब।

'तिल-तिल कर तिलोत्तमा बनने की साधना में लगी हूं।'

पर क्या साधना अकेली मन्दिरा कर रही थी? या साधना सिर्फ़ एक ही तरह की होती है?

सुनन्द भी तो बैठा-बैठा साधना कर रहा था। अपने अपमान का बदला लेने की साधना। क्योंकि पिछले कई महीनों से दीदी घर का किराया उसे भेज रही थी।

पहले महीने में डेढ़ सौ रुपयों के साथ एक चिट्ठी भी थी—'अरे मकान-मालिक! तेरे मकान का किराया भेज रही हूं। अब तक खयाल नहीं रहा, तुझे ठगती रही। मैं खुद निहायत बेवकूफ थी, इसीलिए। हालांकि इतने दिनों की ठगी के बराबर की यह रकम नहीं है। और फिर इससे अधिक देना संभव नहीं हो सका रे। अगर संभव हुआ तो बढ़ा दूंगी।'

दूसरे महीने से सिर्फ़ रुपए ही आ रहे थे।

सुनन्द भी तो रक्त-मांस का जीव था। इसके बाद भी क्या बदला लेने की बात नहीं सोचेगा?

दूसरी तरफ छन्दा भी अपनी साधना में आगे बढ़ रही थी। उसकी साधना का पका हुआ फल एक दिन टप से मन्दिरा के कंधे पर आ गिरा।

छन्दा भी गर्दन से लटककर बोली, "दीदी! प्रेम में बुरी तरह फंस गयी हूं।"

हर महीने डेढ़ सौ रुपए सुनन्द को भेजने से चारों तरफ खिंचाव आ गया था। चारों तरफ रिक्तता की झलक थी। तिलोत्तमा की साधना तो उसके मन की साधना थी। ऐसे देखो तो मन्दिरा के गाल की हड्डियां ऊंची हो चुकी थीं। चेहरे पर अपरिसीम थकान की छाप। नौकर को जवाब देना पड़ा था। दूध तक बन्द करना पड़ा था। ऐसा बहुत कुछ था

जो सिर्फ़ मन्दिरा को ही मालूम था। छन्दा अगर कहती—'चाय कितनी गंदी बनी है, तो मन्दिरा जवाब देती—'हां, इस बार चाय अच्छी नहीं निकली।' छन्दा जब कहती—'निघु तो हवा हो गया है। सुषमा कह रही थी उसके नौकर का भाई बैठा हुआ है। रखोगी उसे?' मन्दिरा कहती—'रहने दे। जान-पहचान के नौकर को रखने से घर का भेद खुलता है।'

नौकर चला गया था। खाना मन्दिरा स्वयं बनाती। इसीलिए वह भी संक्षेप में ही कर लेती थी। इसी तरह मन्दिरा अपने दिन काट रही थी, दिन गिन भी रही थी। ऐसे ही दिनों में छन्दा ने आंधी की भांति अपनी प्रेम-कहानी सुना डाली।

पर मन्दिरा का हैरान होने से कैसे काम चलेगा?

छन्दा की क्या उम्र नहीं हुई थी?

मन्दिरा की नासमझी क्या उसे बच्ची बनाकर ही रखेगी?

मन्दिरा ने एक बार फिर अपने को संभाला। बोली, "अच्छी बात है। प्रेम किया है तो मेरी गर्दन क्यों मरोड़ रही है! गर्दन छोड़। सुना तो सही, वह अभागा कौन है जो तेरी जैसी चुड़ैल लड़की को पसन्द कर बैठा?"

इसके अलावा मन्दिरा और कह भी क्या सकती थी? मुंह भारी करेगी? शासन चलाएगी? वह तो तमाचे के लिए गाल को आगे बढ़ाना होगा। छन्दा उससे बीस साल छोटी थी, अभी भी दीदी से सटकर सोती थी, पर क्या समय आने पर बोलना छोड़ेगी? इसलिए मन्दिरा को हंसना ही पड़ा, जिससे छन्दा भी हंसकर बोल सकी, "अभागा? हिस्, दीदी! देखो तो सही, कैसा सोना लड़का है! तुम्हारे लिए मेहनत की कोई जरूरत नहीं। सिर्फ़ शादी की खटनी खटना है। बड़ी कंजूस हो गयी हो, दीदी, तुम। रौनक नहीं करोगी यह तो दिव्य आंखों से देख ही रही हूं, पर उसे एक अच्छी-सी घड़ी देना दीदी, मुझे कुछ नहीं चाहिए।"

मन्दिरा को याद आया, छन्दा जब चार दिन की थी तब उसने उसे गोद में उठाया था।

'तिलोत्तमा' का स्वप्न धूमिल पड़ गया। छन्दा की शादी वह जैसे-तैसे कर दे, यह वह कैसे सोच सकती थी? बोली, "थोड़ा सब्र कर ले, तेरी घड़ी भी आ जाएगी।"

"मेरी घड़ी ? ओहो ! अभिजित दा की घड़ी के लिए कह रही हो। उनके आने में तो अब भी चार महीने बाकी हैं। नहीं दीदी, इतना सब्र मैं नहीं कर सकती।"

सब्र नहीं कर सकती, सब्र नहीं करा जाता !

दुनिया का एक भी प्राणी सब्र करने को राजी नहीं, केवल मन्दिरा ही सब्र करेगी ! अनन्त समय तक सब्र करेगी।

मन्दिरा धीरे से बोली, "शादी-ब्याह में रुपए-पैसे लगते हैं, थोड़ा इन्तजाम तो कर लूं।"

"दीदी, मैंने कहा न, शादी में धूमधाम की कोई जरूरत नहीं। जाने दो, उसे घड़ी भी देने की जरूरत नहीं। शादी जल्दी करवा दो। रोज-रोज मुझे खरी-खोटी सुनाता है।"

मन्दिरा थोड़ी नाराजगी के साथ बोली, "कैसा लड़का है वह जो खुद आकर नहीं कह सकता। दिखा तो सही, सड़क का जमादार है या कोई रिक्शावाला ?"

"दिखाऊंगी क्यों नहीं ?" गर्व के साथ छन्दा बोली, "मैं ऐसी बेवकूफ नहीं कि सस्ते-से जमादार को मन दे बैठूंगी। वह आया नहीं डर के मारे।"

"डर की कौन-सी बात है ?" मन्दिरा बोली।

छन्दा बोली, "क्या पता? कहता है—बाप रे ! तुम्हारी दीदी का ऐसा कड़ा चेहरा और तनी हुई भौं, दूर से देखने पर ही हिम्मत टूट जाती है। मैंने कितनी ही बार समझाया, तुम्हारी धारणा गलत है। मानता ही नहीं।"

मन्दिरा सूखी-सी हंसी हंसकर बोली, "मेरे सामने आए बिना ही तुझे लेकर भागेगा ?"

"ऐसी बात नहीं, दीदी। अगर तुम अभयदान दो तो आएगा।"

अभयदान देना ही पड़ा।

और अचानक ही मन्दिरा ने एक अभूतपूर्व मुक्ति का स्वाद अनुभव किया। जीवन के सभी दायित्वों से हल्की होकर ही वह अभिजित के आगे अपने को सौंपेगी। सोचा—इन लोगों ने मेरे लिए अच्छा ही किया, बहुत अच्छा। नहीं तो उसे साथ लेकर ही मन्दिरा को पति के घर जाना पड़ता।

छन्दा को पति के घर भेजकर वह 'कमलकली' पाठशाला के साथ ही यह मकान विजनविहारी के लड़के के हाथों में सौंप देगी। कहेगी—देख, अगर स्कूल चला सके तो चलाना, नहीं तो बन्द कर देना। तेरी चीज़ तेरे हाथों में लौटाकर आज मैं निश्चिंत हो गयी।

छन्दा की वेसब्री मन्दिरा को अव उतनी बुरी नहीं लगी। बोझ भी नहीं महसूस हुआ।

अन्त में भारी ब्याज पर उधार लेकर मन्दिरा ने छन्दा की शादी की तैयारी की।

अब उसे क्या चिंता थी ? इसके बाद तो सभी चिंताओं का भार, दायित्व उसका सदा का दोस्त उठाएगा। मन्दिरा कहेगी—'इस उधार के साथ ही मुझे तुम्हें लेना होगा, अभि। शेष मुझसे नहीं हो सका। क्या करूं, कहो ? मुझे गहने वगैरह कुछ नहीं देना।' मन ही मन हंस पड़ी मन्दिरा।

शादी की तैयारी हुई।

नन्दिता आयी। इन्दिरा आयी। खुशी के कोलाहल से घर मुखर हो उठा। नन्दिता के एक और इन्दिरा के तीन बच्चों ने धूम मचा दी।

इस बार भी मन्दिरा ने सदा की भांति बचपना दिखाया। फिर लाल साड़ी खरीद लायी। बड़े-बड़े सुनहरे फूलों वाली लाल बनारसी साड़ी।

दुल्हन ने नाक सिकोड़ ली। बोली, "छिः-छिः, लाल बनारसी ! वह भी बड़े-बड़े फूलों वाली। दुहाई, दीदी··· "

नहीं, छन्दा यह साड़ी नहीं पहन सकती थी। न पहने। बाद में न पहने। पर शादी की रात तो पहन ही सकती थी। नये जेवरों के साथ, चन्दन-कुमकुम के शृंगार में कितनी जंचेगी !

पर छन्दा मानी नहीं। बोली, "लाल रंग देखने से ही मुझे तो बुखार आ जाता है।"

मन्दिरा लम्बी सांस लेकर बोली, "नहीं पहनेगी ?"

"सवाल ही नहीं उठता। इसी क्षण लौटा कर आओ।"

साड़ी और रसीद लेकर निकलते समय एक बार फिर बक्सा खोलकर देखा मन्दिरा ने। हैरान होकर सोचा—छन्दा को ऐसी साड़ी पसन्द नहीं आयी ?

"इस साड़ी की भी क्या कोई तुलना थी ?" दुकानदार कह रहा था,

सोचने लगी—बयालीसवां वर्ष क्या फिर उस सीमा रेखा के बाहर है ? डॉक्टर क्या कहता है ?

छन्दा की शादी हो गयी। उसे भी मन्दिरा ने पति के घर भेज ही दिया और सोचा—बेटी को विदा करने में मां को न मालूम और कितना कष्ट होता होगा ! छन्दा भी तो मां को छोड़ जाने से कुछ कम नहीं रोयी।

यह लड़की जात ही बड़ी विचित्र है। जाने के लिए छटपटाती है, और जाते समय आंसू बहाती है।

पर मन्दिरा ? वह किसके लिए रोएगी ?

बिजनविहारी और वंदना के इस ईंट और काठ के मकान के लिए ?

पर मन्दिरा जो सोचती है, उसकी बहनें वैसी नहीं। तभी इन्दिरा ने कहा, "इसके बाद तुम अकेली कैसी रहोगी, दीदी ?"

मन ही मन मन्दिरा ने दोहराया—थोड़े से ही तो दिन रह गए हैं। पर कहा, "अकेली ही तो आयी थी, जाऊंगी भी अकेली, बीच की चिंता क्यों करूं ?"

"मजाक छोड़ो, दीदी। तुम हमारे साथ चलो।"

"तेरे साथ जाऊं ?"

इन्दिरा बोली, "उसमें क्या है, दीदी ? क्या लोग ऐसे रहते नहीं ? और मैं तुम्हें अपना भार बनकर रहने के लिए तो कह नहीं रही हूं। वहां तुम्हारे बहनोई किसी गर्ल्स स्कूल के सेक्रेटरी हैं। बड़ा अच्छा स्कूल है। टीचर्स के लिए अच्छे क्वार्टर्स हैं। अगर चाहें तो तुम्हारे लिए भी एक···"

यानी बहनों ने पक्की तरह से सोच लिया कि दीदी सिर्फ़ स्कूल की दीदी बनकर जीवन बिताएगी। मन्दिरा इन लोगों को क्या अपने मन की बात बताएगी ? कहेगी —मुझे लेकर तुम लोगों को परेशान होने की जरूरत नहीं। अपनी चिंता अब मैंने अपने चिरकाल के चिंताहारा के हाथों में सौंप दी है।

नहीं, वह अभी यह नहीं कह सकती थी। उसे शर्म आ रही थी। बहुत शर्म आ रही थी।

बाद में चिट्ठी में लिखेगी। फिर तो इन्दु को आने के लिए कहना

पड़ेगा। इन्दिरा नहीं आएगी तो कैसे क्या होगा। चिट्ठी में ही मन्दिरा लिखेगी, "तेरी शादी के दिन नहीं सजी तो तुझे दुख हुआ था न। अब मेरी शादी के दिन मुझे सजाने के लिए तू आ जा···" वही अच्छा रहेगा। चिट्ठी लिखना ही ठीक रहेगा।

तीनों बहनें एक साथ बोल पड़ीं, "कैसे रहोगी अकेली, दीदी ?"

"कमलकली के बच्चे तो हैं न ?"

"पर वे सारे समय तो रहते नहीं ?"

बहनोइयों ने भी बहुत कहा।

दीदी से सभी को प्यार था, उस पर श्रद्धा थी।

उसी बीच छन्दा ने पूछा, "रसीद नहीं मिली, दीदी ?"

मन्दिरा बोली, "तू भी एक ही है। पति के घर जा रही है और अभी भी रसीद की चिंता खाए जा रही है।"

"नहीं, दीदी। सच ही मुझे शर्म आ रही है, नाहक मैंने तुम्हें नुकसान पहुंचाया। अगर मैं 'ना' नहीं करती···"

मन्दिरा ने उसे ढांढस बंधाया, "नुकसान नहीं पहुंचा रे। रिजेक्टेड माल की भी गति होती है। आराम से जाऊंगी किसी दिन दुकान पर। ढाई सौ, तीन सौ की चीज है, छोटी-सी चीज के लिए क्या···"

एक-एक कर सभी बहनें विदा हो गयीं। छन्दा की शादी में अभिजित यहां नहीं था। पर इन्दु और नन्दा के पतियों ने बहुत संभाला था। उनके जाने पर घर मानो बिलकुल ही सूना हो गया था। मानो इस घर की धड़कन चुराकर वे चले गये थे।

अरसे से बच्चों की गुनगुनाहट इस घर में नहीं थी, इसी कारण इस बार इतना सूनापन लग रहा था। मन्दिरा सोचने लगी। हालांकि यह घर सूना होने की बात नहीं थी, सुनन्द की एक लड़की भी तो हुई थी···

अच्छा ! अभिजित का घर क्या कभी मुखर होने का स्वप्न देख सकेगा ? क्या डॉक्टर कहेगा—यही तो इस आधुनिक युग की समस्या है।

मन कैसा हो कर उठा।

अकेलापन !

यह एकान्त !

बहुत ही सन्नाटा !

चार महीने मानो चार युग थे।

मिस चौधरी ने कहा था, "आप कहें तो मैं आपके यहां आकर रह सकती हूं। वहां भी तो मुझे किराया भरना पड़ता है। वह यहां भर दूंगी, मुझे कोई दिक्कत नहीं। मेरे परिवार में सिर्फ़ मां और मैं हूं।"

मन्दिरा टाल गयी। बोली, "नहीं-नहीं ! आपको तकलीफ करने की जरूरत नहीं, मिस चौधरी ! मेरा भाई भी आकर रह सकता है।"

मन्दिरा बनाकर ही बोली थी। मिस चौधरी के हाथों से अपने को बचाना चाहती थी। पर यह नहीं सोचा कि सुनन्द इसी तरीके को अपनाने की सोच रहा था। मन्दिरा अभी अपने एकान्त को अभिजित को चिट्ठियां लिखकर भर देती। लिखती—"लगता है अस्सी घंटे के दिन होते हैं,और कितने दिन लगेंगे ? ··· मेरी हालत कैसी है जानते हो ? आरती के घंटे की ध्वनि बन्द हो जाने पर मन्दिर की तरह। इस घर में सिर्फ़ में हूं। अकेली। सोच सकते हो ? ···नहीं। तुम घबराना नहीं, बिलकुल अकेलीनहीं हूं, हमारी वह बूढ़ी नौकरानी भी है। मेरे पास ही रहती है, मेरी पहरेदार ही समझ लो। और सच मानो तो बहुत बुरी भी नहीं हूं। यह एक दूसरी ही किस्म का अच्छा रहना है। बहनें अपने-अपने घर सुखी हैं,प्रतिष्ठित हैं, मुझे अब किस बात की चिंता है, बोलो। तभी तो जो कभी नहीं किया वही कर रही हूं। सारी दोपहर लेटकर कहानी की किताबें पढ़ती हूं, शाम को छत पर टहलती हूं। ऊं हूं ! उस गुलाबी मकान का एक छोर भी दिखाई नहीं पड़ता। बीच में वह पहाड़ जो खड़ा है। फिर भी छत पर टहलती हूं। कभी-कभी हाथ में कविता की एक किताब भी होती है। स्कूल में पढ़ाने के लिए बच्चों की कविता के अलावा तो भूल ही गयी थी पर अब और कविताओं को फिर से पढ़ रही हूं।

"एक दिन क्या हुआ, जानते हो ? बड़ा ही मजा आया।

"सामने के फ्लैट की एक लड़की ने मेरे हाथों में किताब देखकर

लालचवश बड़े संकोच से पूछा, 'आपके हाथ में कौन-सी किताब है ?'

"मैंने बताया। सुनकर आश्चर्य में पड़ गयी। बोली, 'कविता की किताब ?'

"मैंने पूछा, 'क्यों, कविता नहीं पढ़नी चाहिए ?'

"नहीं। आप पढ़ रही थी न इसलिए सोचा कोई उपन्यास होगा। अगर आपने पढ़ लिया हो तो…'

"समझ रहे हो न, अभि! उपन्यास मेरी तरह की बूढ़ियां चाहे तो पढ़ भी सकती हैं ! पर कविता मेरे हाथ में हैरानी की बात हो गयी…मैं जी भरकर हंसी। अच्छा, एक बात बताओ—तुमने इधर में कोई कविता पढ़ी? या बिलकुल ही छोड़ दिया है? न जाने कितने दिन बीत गये, तुम्हारे साथ मैंने इस तरह से बातें नहीं कीं।"

इसी तरह की फालतू बातों से चिट्ठियां भरती रहती मन्दिरा। क्या मन्दिरा ने अपने वसन्त की सारी मंजरियों को किसी कोल्ड स्टोरेज में बन्द कर रख छोड़ी थीं जो आज उन्हें बाहर निकालने का अवसर उसे मिला था, या मन्दिरा अब तक इन बातों से बिलकुल बेखबर थी और अपनी हरकतों पर स्वयं ही हैरान हो रही थी ?

मन्दिरा शायद भूल गयी थी कि वह सिर्फ़ दीदी है। उसके मन का अवरुद्ध तरुणी मन अपने से ही खेलने लगा था। वह स्वयं को लेकर कविता रचने लगी। दूर का अभिजित जैसे वह कब का नवीन अभिजित था। मन्दिरा भी तो इस परती जीवन के दुखद दिनों के पहले की मन्दिरा थी।

प्रतीक्षा के लम्बे दिन भी खत्म हुए। अभिजित लौट आया।

और जिस दिन वह लौटा उसी दिन मन्दिरा के उल्लास-भरे हृदय को फिर एक झटका लगा। सुनन्द की तरफ से वकील की चिट्ठी आयी थी। लिखा था—चिट्ठी मिलते ही मन्दिरा को स्कूल हटाकर मकान खाली कर देना पड़ेगा, क्योंकि सुनन्द को मकान की जरूरत थी। अपने पैतृक मकान में रहने का अधिकार उसी का है…और बाप की सम्पत्ति पर लड़कियों का जो कुछ उचित हिसाब बनता है, कानून के अनुसार उसे दिया जायेगा।

कारण, विजनविहारी मकान लड़के के नाम कर गये थे।

मन्दिरा ने आग की तरह झुलसती नजरों से उस रजिस्ट्री चिट्ठी को देखा। बाबूजी की वसीयत की यह खबर नयी थी, गढ़ी हुई थी। अब तक वह किसके पास थी ? चाचा के पास ?

यह भी विश्वास करना ही पड़ेगा।

अभिजित को भी आज ही के दिन आना था। एयरपोर्ट पर बहुतों की भीड़ में एक बार भेंट भी हुई थी। नन्दिता पाइकपाड़ा में रहती थी। खबर पाकर वह भी हवाई अड्डे पर आयी थी।

लौटते समय पति से बोली, "देखो, दीदी ठीक आयी थी। बेचारी। ऊपर से दिखती है जैसे कुछ भी नहीं, पर मन में है, बाबा, थोड़ा-बहुत।"

नन्दिता के पति ने कहा, "हैरानी होती है। यह तो एक तरह से शव-साधना के बराबर ही है।"

अभिजित के दोस्त, डॉक्टर साथी, दूर-दराज के रिश्तेदारों ने उसे घेर रखा था।

बात नहीं हो पायी। पास से देखने के लिए, बातें करने के लिए जिस हर पल को मन्दिरा गिन रही थी, उसी समय सुनन्द के वकील की वह चिट्ठी मिली।

चिट्ठी को लेकर मन्दिरा उसके घर गयी। उदास सूखा चेहरा, रूखे बाल। तिलोत्तमा बनने की साधना कहीं नहीं थी।

बोली, "सोचा था, गौरव के साथ तुम्हारे घर आऊंगी, जब तुम समारोह के साथ मुझे ले जाने की तैयारी करोगे। मेरा अहंकार नहीं रहा, अभि !"

वकील की चिट्ठी पढ़कर अभिजित सिर से पैर तक जल उठा। बोला, "उस नीच के घर अब एक पल भी नहीं। तुम आज ही चली आओ।"

"ऐसा नहीं हो सकता।"

"नहीं हो सकता ?"

"हां, अभि !"

"तो फिर ये दो-चार दिन तुम्हें कहीं और रहना पड़ेगा। शादी के लिए

मैरेज-रजिस्ट्रार को नोटिस तो देना ही होगा।"

पर मन्दिरा और कहां जाकर रह सकती थी ? चाचा के घर ? मामा के घर या छोटे बहनोइयों के घर ? क्या कहेगी जाकर ? छोटे भाई ने घर से निकाल दिया है, इसलिए आश्रय चाहिए ?

जिस घर की हवा में अनेक अभिषेकों के रोमांच थे, मंगल रेखाएं थीं, जिस घर के कोने-कोने में मन्दिरा के बयालीस वर्षों के जीवन की हजारों स्मृतियां गुंथी हुई थीं, आज एक दिन के नोटिस पर मन्दिरा को छोड़ना पड़ेगा ? और मन्दिरा की शादी होगी रजिस्ट्री आफिस में?

इस घर की हवा में मन्दिरा के सैकड़ों स्वप्न और हजारों कामनाएं जुड़ी थीं, मन ही मन कितने रंगों से अपने मंडप को उसने सजाया था।

मन्दिरा ने आंखें उठाईं। क्लेश, क्लान्ति और आघात की छाप थी उस दृष्टि में।

उसके मन की खिली कली रंगहीन हो गयी थी। मनुष्य की निर्ममता शायद मनुष्य को इसी तरह खत्म कर देती है।

थकान की एक नजर उठाकर मन्दिरा बोली, "हमारी शादी रजिस्ट्री करके होगी ?"

"और नहीं तो क्या ?" अभिजित ने कहा।

"क्यों, अभि ? जीवन भर इतनी शादियां देखीं, इतनी शादियां करवायीं, फिर भी अपने लिए ऐसी बेढंगी बातें तुम्हें सूझीं ?"

अभिजित सहम गया। बोला, "सूझी थी। अगर वैसा हो सकता तो अच्छा ही होता, पर अपनी हिन्दू शादी के बड़े अड़ंगे हैं। हम लोगों ने तो उन लोगों की शादी करवायी पर…हमारी कौन करवाएगा ?"

"हम स्वयं ही करेंगे।" फिर अपने हाथ को अभिजित के हाथ के ऊपर रखा। स्थिर आवाज में बोली, "आजीवन अपना भार तो हमें स्वयं ही ढोना पड़ा है।"

मन्दिरा के इस चेहरे को देखते हुए अभिजित बोला, "तुम्हारी बात ठीक है। फिर भी सोच रहा हूं, मेरी तरफ से तो बहुत मुश्किल नहीं होगी। इधर-उधर से लोग आएंगे ही। मैं तो तुम्हारे ही लिए सोच रहा था। तुम्हारी तरफ से सब कुछ कौन करेगा ? और कितना कष्ट उठाओगी ?"

मन्दिरा मुसकरायी। इस मुसकराहट के साथ ही जीवन भर की क्लान्ति, कष्ट और ग्लानि सब झर गए।

मन्दिरा भूल गयी कि उसके कानों के पास के कुछ बाल सफ़ेद हो चुके थे, मांग चौड़ी हो गयी थी। मन्दिरा सुकुमार हंसी के साथ बोली, "कष्ट तो बहुत उठाया है। थोड़ा और उठा लेने दो। जीवन में एक बार चन्दन-बिंदी भी नहीं लगवाऊंगी ?"

वकील से सात दिनों का समय मांगा गया। इस अवधि में सारा काम सुलटाना था।

इन्दिरा को बुलवाने की साध पूरी न हो सकी। नन्दा और छन्दा आयीं, पर प्रसन्नता के साथ नहीं। ससुराल में उन लोगों की शर्म का पार नहीं था। वहां लोग इस बात को लेकर हंसी-मसखरी कर रहे थे।

नन्दिता की सास मणिमाला बोली, "हां रे छोटी बहू, तुम्हारी उस दीदी की अब शादी हो रही है ? क्या कह रही हो ? कितनी उम्र हुई है ? पचास के करीब तो होगी ही ?··· बयालीस ? बात एक ही है। इस उम्र में तो मैंने अपने बेटे की शादी कर दी थी।"

नन्दिता की जेठानी अमला बोली, "वर का कहां से जुगाड़ किया, नन्दा ? दूल्हा कोई विधुर तो नहीं है ? ओहो ! पहले से जान-पहचान थी ? अच्छा ही हुआ। तो दीदी प्रेम के फल को अब तक पका रही थी। दूल्हे के कुछ बाल तो काले हैं न? या कपास के फूलों पर सेहरा बांधेंगे !"

छन्दा के घर तो इससे भी अधिक धिक्कार था।

लोग कह रहे थे,"इसी दीदी ने तुम्हें चार दिन की उम्र से पाला था? अब भी शादी की इच्छा रह गयी है ? आदमी की रुचि की भी बलिहारी है !"

छन्दा की फुफिया सास अजीब दार्शनिकता के साथ बोली, "इसीलिए तो कहा जाता है कि औरत के मरने के बाद ही उसके गुण गाना चाहिए। इसी को कहते हैं, शाम को गन्द पर पैर पड़ा।"

छन्दा और नन्दा के पतियों ने भी सरस विचार प्रकट किए। छन्दा का पति कुछ ज्यादा ही मुंहफट था। बोला, "अब जयमाल की बदली का

क्या फल ? वंश-रक्षा कर सकेंगे ?"

बहनें क्या कहतीं ? दीदी की लज्जा छिपाने के लिए लड़तीं। कहतीं, "ऐसी भी क्या बात है ? कितने ही लोगों के पैंतालीस-पचास में भी बच्चा होता है।"

"होता होगा। पर हरएक को थोड़ा ही होता है।"

बहनें आवाज़ उठातीं, "ठीक है। न भी हुआ तो क्या। बहुतों को तो ऐसे भी नहीं होता।"

"अरे, नाराज क्यों होती हो !"

वे कहतीं, "मजाक भी क्यों कर रहे हो ? यह तो एक तरह से अच्छा ही हो रहा है। अकसर हम सोचा करते थे, दीदी अकेली है, कैसे रह रही होगी ? और भैया का कारनामा सुना है ? मकान खाली करवाने के लिए वकील से नोटिस दिलवाया है। शादी नहीं होती तो दीदी कहां जाती ?"

पति कहते, "कैसी मुश्किल है ! हम कोई शिकायत थोड़े ही कर रहे हैं। रहने के लिए अच्छी जगह को ही चुना है। पर हम तो उस सज्जन के धैर्य की बात सोच रहे हैं।"

पर दोनों बहनें जब अकेले में मिलतीं तो समालोचना में प्रखर हो उठतीं। कहतीं, "इसलिए उस समय दीदी ने इन्दिरा का प्रस्ताव टाल दिया था। मन में यह बात थी तो पहले ही खोलकर बता देतीं। इन लोगों को कह-सुनकर तैयार करतीं। यह तो मानो अचानक एक धक्का-सा था। अभिजित दा भी कैसी विपत्ति में पड़े ? मैंने उस दिन देखा न। बेचारे इतने दिनों के बाद घर लौटे थे। शादी-वादी रजिस्ट्री से ही करना चाहते थे, पर दीदी ही राजी नहीं हुई। दूसरी तरफ भैया के कारण देर भी नहीं की जा सकती।" आलोचना तो करतीं, पर सबसे पहले आ भी जुटीं। काम-काज में हाथ बंटाया। अपने लिए भी सोचने लगीं—यहां से कौन-कौन-सी चीज़ ली जा सकती थी ?

मन्दिरा के लिए कुछ लेने का सवाल ही नहीं था। अभिजित के घर किस चीज़ की कमी थी ?

यह बात भी तो नन्दा और छन्दा को खटक रही थी।

बचपन से ही वे लोग अभि दा के घर आती-जाती रही थीं। उनके

घर की सजावट और वहां का ऐश्वर्य भी देखा था। दोनों बहनों में किसी की ससुराल उसकी बराबरी नहीं कर सकती थी।

और अब दीदी उस घर की मालकिन बनने जा रही थी, जिसे इस समय गुरु-मंत्र लेकर किसी आश्रम में जाकर रहना चाहिए था। या बाहर के किसी स्कूल में नौकरी लेकर क्वार्टर में जाकर रहना ही शोभा देता।

सजे हुए ड्राइंग-रूम और बड़े बेडरूम का अर्थ दीदी क्या समझेगी ?

अगर अभिजित दा के मन में कोई इच्छा नहीं थी तो उसने इतने आधुनिक ढंग के फर्नीचर से घर क्यों सजाया था ?

नन्दिता हंसती-हंसती लुढ़क पड़ी। बोली, "दुख तो सिर्फ़ इस बात का है कि अभि दा की दुल्हन आधुनिक नहीं, पौराणिक है। उफ़ ! दीदी इतने पुराने विचारों की है। दीदी तो वहां जाकर मां-मौसी की तरह व्रत-त्योहार निभाएगी। पूजा के आसन पर सिक्का जमाएगी।"

छन्दा बोली, "इसका उलटा भी तो हो सकता है। शायद अति आधुनिका बन जाए।"

समालोचना, कानाफूसी का कोई अन्त नहीं था। दीदी की शादी के संकल्प ने उनके सिर पर मानो बिजली गिरा दी थी।

'दीदी कष्ट में है,' इस चिंता में एक ममता थी। दीदी के लिए वे सहायता का हाथ बढ़ा सकती थीं। पर दीदी सुख पाएगी,और वह भी उन सबों से ज्यादा, इस चिंता में सहानुभूति के छींटे तक नहीं थे।

नन्दा, छन्दा या उनके पति अभिजित की तरह पैसेवाले नहीं थे। इसलिए उन्होंने जरूरत की कुछ चीजों को यहां से ले जाना ही उचित समझा। कम से कम जिन चीजों को वे लोग बराबर इस्तेमाल करती आयी थीं, वह अलगनी, दराज, अलमारी, आईना किसके लिए छोड़कर जाएंगी? राजकुमारी शीला के लिए ? वह तो आते ही इन पुरानी चीजों को बाहर फेंककर ही दम लेगी।

इधर शादी में भी खटना-खुटना रह गया था। पर शादी के तमाम नियमों को मानकर चलना पड़ेगा, इतना वे सोच भी नहीं पायी थीं।

पर मन्दिरा पर सनक सवार थी।

नन्दा ही-ही हंसकर बोली, "छन्दा, तूने सुना है, दीदी नाई को बुलाकर मंडप बांधने के लिए केले के खम्भे लाने के लिए कह रही है? कह रही थी—देखना, ज्यादा देर मत कर देना। सोच तो सही, वह नाई बाहर जाकर कितना हंसा होगा! दीदी पर तो शादी का भूत सवार हो गया है।"

पर मन्दिरा की सनक का एक पहलू अभी भी बाकी था और उसके लिए चारों तरफ से छिः-छिः हुई। नन्दा बोली, "मैं तो सपने में भी नहीं सोच सकती थी। दीदी इतनी भोली लगती थी, पर अन्दर का दांव-पेंच देखा, छन्दा? इसीलिए तेरी शादी के समय रसीद खो गयी थी।"

सचमुच बात हैरानी की थी।

ताज्जुब की बात थी कि मन्दिरा को शर्म नाम की चीज ही नहीं रह गयी थी। इस उम्र में शादी करने की लज्जा से ही लोग सिर नहीं उठाते —पर यह क्या? छिः-छिः!

छोटे बहनोइयों के सामने यह साज-शृंगार! पतियों के सामने नन्दा छन्दा का मान नहीं रहा। उन्होंने सोचा था और कहा भी था, "दीदी! हमने सोचा है हम दोनों बहनें मिलकर तुम्हारी शादी की पोशाक तुम्हें भेंट में देंगे। साड़ी, ब्लाउज, पेटीकोट, कॉस्मैटिक्स का सारा सामान। सुन्दर-सी एक आसमानी रंग की पतली किनारे की साड़ी भी दुकान पर देख आयी हूं।"

पर मन्दिरा ने बहनों को बीच में ही रोक दिया। बोली, "खामखा क्यों खर्च करेगी? छन्दा की शादी के समय रसीद खो जाने से वह साड़ी तो अब तक यों ही पड़ी है। दुकानदार ने उसे वापस तो लिया नहीं, उसी से काम चला ले न। एक रात की ही तो बात है।"

"वह साड़ी? वह बड़े-बड़े सुनहरे फूलों वाली लाल बनारसी?" नन्दा-छन्दा एक-दूसरे का मुंह ताकने लगीं।

बोलीं, "दुकानदार ने वापस नहीं ली?"

"नहीं। सोचा था, वह ले लेगा। पर बिना रसीद माना नहीं। अच्छा बोल, दुकानदार को ऐसा करना चाहिए था?"

नन्दा-छन्दा दीदी की इस निर्लज्जता पर अवाक् रह गयीं। क्या यह

चेहरा हमेशा की उस दीदी का था ?

वह क्यों इतनी अपरिचित-सी लग रही थी ?

दीदी बेवकूफ बन गयी थी, क्या इसी कारण ? निराश होकर वे सोचने लगीं, जरूर दीदी का दिमाग खराब हो गया होगा, ज्यादा उम्र तक कुंआरी रहने से ही दिमाग विकृत हो जाता है।

ऐसी स्थिति में मना करने से फायदा भी क्या ?

जो जी में आए, पागलपन करे।

बहनें तो नाक सिकोड़कर पगली को माफ भी कर सकती थीं, पर बाकी लोग ?

शादी में मन्दिरा ने काफी लोगों को बुलाया था। चाचा के नाम से भी निमंत्रण-पत्र गया था। बहनों से भिजवाया था। शादी की रात भीड़-भाड़ थी। लोगों के मन में कौतूहल था, उत्सुकता थी। लोग यह क्यों कहेंगे कि इसमें कौन-सी बात है ? ऐसा तो होता ही है। नहीं। लोग कहने लगे, "इतनी उम्र हो, गयी पर ऐसा कभी देखा नहीं। पुरुष अगर शादी के लिए पागल हो तो···" सभी की जुबान पर, आंखों की दृष्टि में थी गाढ़ी लाल बड़े-बड़े सुनहरे फूलों वाली बनारसी साड़ी। आजकल तो जिनके पास थी, वे भी नहीं पहनतीं और इन्होंने पहले से ही खुद खरीदकर रखी थी। बाप रे ! बुढ़िया के शौक की दाद देनी पड़ती है। मन के अन्दर इतना कुछ था··· !

अपमान से नन्दा-छन्दा का चेहरा उतर गया। चली आयीं उस कमरे में जहां मन्दिरा दुल्हन के रूप में सजकर बैठी हुई थी। नये जेवरों की चमक नहीं थी, सिर्फ़ सुन्दर ढंग से चंदन की बिंदिया चेहरे पर शोभ रही थी। मिस चौधरी ने अपने हाथों से मिस सेन के गालों को सजाया था।

मन्दिरा ने धीमा प्रतिवाद भी किया, "इतनी बहार की जरूरत नहीं, मिस चौधरी ! जैसे-तैसे कुछ बना दीजिए।"

मिस चौधरी ने कहा था, "जैसे-तैसे ही करवाना था तो मेरी आने की क्या जरूरत थी ? जीवन में एक ही बार तो दुल्हन के रूप में सजा जाता है, और उसमें भी कमी क्यों हो ?"

मिस चौधरी के मन में व्यंग्य नहीं था। मिस चौधरी शायद अपने शून्य जीवन की तरफ देखकर मन्दिरा के इस शुभ दिन में अन्तरंग मन से सच्ची शुभकामना दे रही थी।

'कमलकली' उठ जाएगी, यह मिस चौधरी ने सोचा भी नहीं था। वह सोच रही थी—मिस सेन का तो सभी कुछ कायम रहा। पति के घर के पास ही स्कूल। अपने बारे में उसके मन में विचार आ-जा रहे थे कि तीन-चार नाबालिग भाई-बहनों से तो विधवा मां ज्यादा भारी है। भविष्य में भाई-बहनों की गति हो सकती है, पर विधवा मां की? वह भी रोगी? कोई उम्मीद नहीं।

इस निराश मन की वेदना को लेकर ही मिस चौधरी ने मिस सेन को चंदन के सुन्दर लेप से सजाया था। मन्दिरा चेहरे की सारी उज्ज्वलता लिये चुपचाप बैठी थी।

और फिर अचानक ही एक दर्पण के लिए उसका मन व्याकुल हो उठा। एक छोटा-सा आईना अगर पास में होता तो मन्दिरा आज अपने को एक बार देख लेती। पर मन्दिरा सोच रही थी…

उम्र ढल जाने पर सभी बातों में शर्म आती है, नहीं तो किसी न किसी बहाने उस कमरे के बड़े आईने के सामने जाकर खड़ी हो जाती।

पर मन्दिरा की उम्र ढल गयी थी, उसे हर बात में लज्जा आ रही थी। इसलिए उसे कल्पना में ही सोचना पड़ा, शुभ दृष्टि के समय अभिजित आज उसका कैसा चेहरा देखेगा!

क्या अभिजित यह नहीं सोचेगा कि वाकई मन्दिरा ने उसकी बात मानी थी। तिल-तिल कर तिलोत्तमा बनी थीं।

आवेग से विह्वल किशोरी की तरह उस असह्य सुख के लिए मन्दिरा एक-एक पल गिन रही थी। और तभी नन्दा-छन्दा आकर झल्ला पड़ीं।

बोलीं, "इतना न ही करतीं दीदी, तो अच्छा रहता। बहुत कारणों से हमें हास्यास्पद बनाया पर यह नहीं समझ में आता कि तुम अपने होश भी कैसे खो बैठीं? चालाकी से छिपाई हुई यह साड़ी पहनने की साध जब मन में इतना ही थी तो बाद में ही किसी दिन पहन लेतीं। सुहाग रात

में··· । पचास साल का दूल्हा अपनी दुल्हन को देखकर मोहित हो उठता ।"

चंदन से आंके हुए दुल्हन के चेहरे ने विह्वल नजरों से अपनी बहनों की ओर देखा ।

वह शायद समझ ही नहीं पा रही थी कि यह कौन-सी भाषा थी । क्या वह अपनी श्रवण-शक्ति खो बैठी थी ? कुछ सुनाई नहीं दे रहा था ? या फिर इन लोगों को पहचान नहीं पा रही थी, अपने ही हाथों से पाली गयी बहनें हैं ।

शिथिल अस्फुट शब्दों में मन्दिरा ने कहा, "क्या कह रही है ?"

"कह क्या रही हूं !" छन्दा बोली, "कहने के लिए रह ही क्या गया है ? पर दीदी, इतना ही कहूंगी कि हर चीज की एक शोभा और अशोभा होती है । तुम्हारी यह शादी जब हास्यास्पद है ही, तब भी ऊपर से और भी हास्यास्पद बनाने की क्या जरूरत थी ?" व्यंग्य, कौतुक, धिक्कार, विरक्ति की छाप थी उनके चेहरे पर । मन्दिरा नशे में डूबे आदमी की भांति इन चेहरों को देखती रही । उसके अपने चेहरे पर कोई भाव नहीं खिला । उसकी आंखों के आगे यह विवाह-मण्डप आलोक-माला की लड़ियों के साथ झलमला उठा ।

चंडी पाठ की पोथी मन्दिरा के हाथ में ही धरी थी । शादी पूरी होने तक रखने की रस्म थी । न जाने कब उसके हाथ से वह सरक गयी, उसे मालूम ही नहीं हुआ । वह अपनी सारी बोध-शक्ति खो चुकी थी । नही तो क्या वह मंडप से उठ नहीं पड़ती ? उस बड़े फूलों वाली लाल बनारसी साड़ी को शरीर से उतारकर फेंक नहीं देती ? और उसके बाद कहीं दहाड़ मार-कर गिर नहीं पड़ती, जिसे देखकर नन्दिता और छन्दिता का चेहरा उतर जाता ।

पर मन्दिरा तो बोध-शक्ति ही खो चुकी थी, उसकी चेतना मर गयी थी । इसलिए वह बैठी ही रही । बैठी ही रहेगी । जब तक उसका छोटा बहनोई हंसता चेहरा लिये फेरे लगवाने के लिए उसका हाथ पकड़कर नहीं उठाएगा, मन्दिरा बैठी ही रहेगी ।